गंगा-पुस्तकमाला का ११२वाँ पुष्प

प्रेम-पंचमी

प्रेमचंद

प्रेम-पंचमी

सपादक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का ११५वाँ पुष्प

प्रेम-पंचमी

[मिडिल, मैट्रिक और प्रथमा के
विद्यार्थियों के लिये उपयुक्त
५ सुंदर कहानियाँ]

लेखक
प्रेमचंद
[रंगभूमि, कर्बला, प्रेम-प्रसून, प्रेम-द्वादशी, प्रेम-बत्तीसी,
प्रेम-पच्चीसी, प्रेमाश्रम, सेवा-सदन, प्रेम-पूर्णिमा,
सप्तसरोज, नवनिधि, कायाकल्प, वरदान,
प्रतिज्ञा आदि के रचयिता]

प्रकाशक
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
प्रकाशक और विक्रेता
लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द १)] सं० १९८७ वि० [सादी ॥)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ
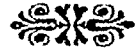
मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

भूमिका

संसार में जिस दिन दादी और उसके नाती-पोतों का आविष्कार हुआ, उसी दिन कहानी का भी जन्म हुआ। कहानियों का दादी और बच्चों के साथ अटूट संबध है। बच्चों को बिना कहानी सुने नींद नहीं आती, और दादी को बिना कहानी सुनाए चैन नहीं पड़ता। इसीलिये शायद कहानी का आदिम इतिहास अज्ञात है। उसका सबसे प्रथम आभास हमें संसार के सभी देशों में प्रचलित दंत-कथाओं तथा धार्मिक साहित्य में मिलता है। बूढ़ी दादी के समान ही ये धार्मिक ग्रंथ भी अजान मानव-समाज को कहानियाँ सुना-सुनाकर सीधा रास्ता बतलाने का प्रयत्न किया करते हैं। हमारे देश के शास्त्र और पुराण, महाभारत और रामायण, सभी प्राचीन ग्रंथ कहानियों से भरे पड़े हैं। इन सब अनंत कथाओं का एक-मात्र उद्देश्य है अज्ञानी और अबोध मनुष्य-समाज को शिक्षित बनाना। कहानी का यह महत्त्व-पूर्ण उपयोग हमारे देश में बहुत पहले से ही चला आया है। दादी की कहानियाँ भी प्राय इसी उद्देश्य को लेकर कही जाती थीं। क्योंकि बालकों की अपरिपक्व मनोवृत्तियों को सुमार्ग में प्रवृत्त करने के लिये कहानी ही सबसे उत्तम साधन माना जाता था। आज दिन भी भारतीय तथा पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली में कहानी को ही शिशु-शिक्षा का सर्वोत्तम माध्यम समझा जाता है। बालकों के लिये लिखी गई सभी पुस्तकें—गणित-जैसे रूखे विषय की भी—कहानियों से भरी रहती हैं। मनोरंजन के साथ शिक्षा-प्रदान करने के लिये कहानी से बढ़कर साधन संसार ने अब तक नहीं ढूँढ़ पाया।

भाषा और लेखन-शैली की शिक्षा के लिये भी कहानी एक अत्यत उपयोगी साधन समझी गई है। उसके द्वारा बालकों को साहित्य के प्रायः सभी अगों की बारीकियों का ज्ञान कराया जा सकता है। एक अच्छी कहानी में नाटक के लिये उपयुक्त कथोपकथन, उपन्यास के लिये उपयोगी चरित्र-चित्रण, काव्य के उपयुक्त वस्तु वर्णन तथा उत्तम निबध के लिये लाभदायक विचार-विभ्राट् बड़ी आसानी से मिल सकते हैं। उत्तमोत्तम लेखकों की कहानियों के अध्ययन से भाषा के परिमार्जित रूप, उसके लिये आवश्यक ओजःपूर्ण तथा समयोचित शब्दावली के संगठन और भाव व्यंजना के अनुरूप लेखन-शैली आदि का पूरा ज्ञान हो सकता है। पाठशालाओं में पढ़नेवाले विद्यार्थियों को भाषा, साहित्य तथा शैली का आवश्यक बोध कराने के लिये तो कहानी से बढ़कर दूसरा साधन ही नहीं। उनके पास बड़े बड़े आचार्यों द्वारा लिखे हुए निबंधों, उपन्यासों तथा नाटकों को पढ़ने के लिये समय ही नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रति दिन पढ़ाए जानेवाले श्रेणी-पाठ के लिये बड़े-बड़े नाटक, उपन्यास भी अनुपयुक्त सिद्ध हुए हैं। बालकों में स्थगित कथा-वस्तु के लिये प्रतीक्षा करने का भाव बहुत कम हुआ करता है। वे एक बार में ही, एक साँस में ही, पूरी कथा सुन लेना चाहते हैं। बासी कथानक में उन्हें ज़रा भी अभिरुचि नहीं रह जाती। अतएव उन्हें छोटी-छोटी स्वतत्र कथाओं द्वारा ही हिंदी-साहित्य की बारीकियों, भाषा सौष्ठव तथा साहित्य के आचार्यों की लेखन-शैली का ज्ञान कराना चाहिए। कहानियाँ ही उनके लिये सर्वोत्तम माध्यम होती हैं। अतएव हमारी सम्मति में हिंदी के आचार्यों द्वारा लिखी हुई छोटी-छोटी कहानियों के संग्रह ही बालकों को भाषा और साहित्य-विषयक शिक्षा के लिये उपयोग में लाने चाहिए, प्रचलित 'प्रोज़-सेलेक्शन' नामधारी भानमती के-से साहित्यिक पिटारे नहीं। उनसे किसी विषय का

सफल ज्ञान होने के बजाय ऐंद्रजालिक भ्रांति ही अधिक उत्पन्न होती है।

इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर हमने हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक श्रीयुत मुंशी प्रेमचंदजी की सैकड़ों कहानियों का आलोडन करने के बाद नवनीत-सम यह उनकी पाँच सर्वोत्तम कहानियों का संग्रह प्रकाशित किया है। इन कहानियों का संग्रह करने में हमने बालोपयोगिता को ही सबसे मुख्य लक्ष्य रक्खा है। कोई भी कहानी ऐसी नहीं रक्खी गई, जिसमें व्यर्थ के लिये राजनीतिक पचड़ों को घसीटा गया हो। साथ-ही-साथ दांपत्य-प्रेम तथा यौवनोन्माद से संबंध रखनेवाली कहानियाँ भी हमने छोड़ दी हैं, क्योंकि हमारी समझ में वे कोमल-मति बालकों के लिये हानिकर हो हो सकती हैं, लाभदायक नहीं। भाषा तथा शैली की दृष्टि से भी ये कहानियाँ प्रेमचंदजी की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ हैं। इनमें उनकी शैली के सभी प्रकारों का समावेश हो गया है। 'मृत्यु के पीछे' कहानी में प्रेमचंदजी की आदर्श-सृष्टि, वर्णन शैली तथा भावों की ऊहापोह पूर्ण रूप से प्रकट हुई है। 'आभूषण' में उनका कथा-वस्तु पर अधिकार पूर्णतया प्रस्फुटित हुआ है। मनोविज्ञान का अध्ययन भी उसमें खूब विकसित हुआ है। मध्य श्रेणी के हिंदोस्तानी घर का उसमें सजीव चित्र देखने को मिलता है। 'राज्य-भक्त' में ऐतिहासिक आधार पर लिखी हुई उनकी इस तरह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है। लखनऊ के अंतिम नवाबी दिनों का खाका-सा आँखों के सामने नाचने लगता है। 'अधिकार-चिंता' अपने ढंग की एक ही कहानी है। पशुओं की मनोवृत्ति का बड़ा ही सुंदर अध्ययन तथा प्राकृतिक दृश्य-वर्णन इस कहानी में मिलता है। प्रेमचंदजी की भाषा का लोच इस कहानी में पूर्णतया प्रकट होता है। 'गृह-दाह' हिंदोस्तानी घरों में प्रतिदिन होनेवाले नाटकों का एक दृश्य है। आदर्श भ्रातृ-प्रेम का चित्रण जैसा इस

कहानी में हुआ है, वैसा शायद अन्यत्र कहीं नहीं हो सका। कथोपकथन (Dialogue) का महत्त्व भी इस कहानी में खूब प्रकट हुआ है।

इन पाँचो कहानियों के एकत्र कर देने में हमारा केवल यही उद्देश्य है कि वर्तमान हिंदी-साहित्य के प्रधान अंगों से परिचित होने के लिये हमारे बालकों को जगह-जगह न भटकना पड़े, मनोरंजन के साथ-साथ उन्हें उत्तम शिक्षा मिले, और भाषा और शैली का अनुकरण करने के लिये उनके सामने हिंदी के जन-प्रिय तथा मान्य लेखक की कृति आदर्श-रूप से उपस्थित हो।

प्रस्तुत पुस्तक का स्टैंडर्ड हमारी पाठशालाओं के सातवें, आठवें, नवें तथा दसवें दर्जे के विद्यार्थियों की क्षमता के अनुसार रक्खा गया है, जिससे स्कूल और पाठशालाओं के विद्यार्थी भी प्रेमचदजी की विख्यात लेखन-शैली से परिचित हो सकें। इसका मैटर भी साल-भर में समाप्त हो जाने के हिसाब से ही संग्रह किया गया है।

आशा है, शिक्षा-प्रेमी सज्जन—विशेषकर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, मदरास-हिंदी-प्रचार-कार्यालय, जालधर-कन्या-महाविद्यालय, गुरुकुल काँगड़ी, गुरुकुल वृंदावन, पजाब, यू० पी०, सी० पी०, बिहार, दिल्ली, राजपूताना आदि प्रांतों की टेक्स्ट-बुक-कमेटियाँ, इटरमीडिएट-बोर्ड और युनिवर्सिटियाँ तथा अन्यान्य भारतवर्षीय शिक्षा-संस्थाएँ—हमारे इस उद्योग से संतुष्ट होंगे, और अपने बालकों और बालिकाओं में इस पुस्तिका का प्रचार बढ़ावेंगे।

श्रीदुलारेलाल भार्गव
(संपादक)

विषय-सूची

प्रेम-पंचमी

मृत्यु के पीछे

(१)

बाबू ईश्वरचंद्र को समाचारपत्रों में लेख लिखने की चाट उन्ही दिनो पड़ी, जब वह विद्याभ्यास कर रहे थे। नित्य नए विषयों की चिंता मे लीन रहते। पत्रों मे अपना नाम देखकर उन्हे उससे कही ज्यादा खुशी होती थी, जितनी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने या कक्षा मे उच्च स्थान प्राप्त करने से। वह अपने कॉलेज के 'गरम-दल' के नेता थे। समाचारपत्रों में परीक्षा-पत्रों की जटिलता या अध्यापकों के अनुचित व्यवहार की शिकायत का भार उन्ही के सिर था। इससे उन्हे कॉलेज मे नेतृत्व का पद मिल गया था। प्रतिरोध के प्रत्येक अवसर पर उन्ही के नाम नेतृत्व की गोटी पड़ जाती थी। उन्हें विश्वास हो गया था कि मै इस परिमित क्षेत्र से निकलकर संसार के विस्तृत क्षेत्र में अधिक सफल हो सकता हूँ। सार्वजनिक जीवन को यह अपना भाग्य समझ बैठे थे। कुछ ऐसा संयोग हुआ कि अभी एम्० ए० के परीक्षार्थियों मे उनका नाम निकलने भी न पाया था कि 'गौरव' के संपादक महोदय ने वानप्रस्थ लेने की ठानी, और पत्रिका का भार ईश्वरचंद्र दत्त के सिर पर रखने का निश्चय किया। बाबूजी को यह समाचार मिला,

तो उछल पड़े। धन्य भाग्य कि मैं इस सम्मान-पद के योग्य समझा गया! इसमे संदेह नही कि वह इस दायित्व के गुरुत्व से भली भाँति परिचित थे, लेकिन कीर्ति-लाभ के प्रेम ने उन्हें बाधक परिस्थितियों का सामना करने पर उद्यत कर दिया। वह इस व्यवसाय मे स्वातंत्र्य, आत्मगौरव, अनुशीलन और दायित्व की मात्रा को बढ़ाना चाहते थे। भारतीय पत्रों को पश्चिम के आदर्श पर लाने के इच्छुक थे। इन इरादो को पूरा करने का सुअवसर हाथ आया। वे प्रेमोल्लास से उत्तेजित होकर नदी मे कूद पड़े।

(२)

ईश्वरचंद्र की पत्नी एक ऊँचे और धनाढ्य कुल की लड़की थी, और ऐसे कुलो की मर्यादप्रियता तथा मिथ्या गौरव-प्रेम से संपन्न थी। यह समाचार पाकर डरी कि पति महाशय कहीं इस झंझट मे फँसकर क़ानून से मुँह न मोड़ ले। लेकिन जब बाबू साहब ने आश्वासन दिया कि यह कार्य उनके कानून के अभ्यास मे बाधक न होगा, तो कुछ न बोली।

लेकिन ईश्वरचंद्र को बहुत जल्द मालूम हो गया कि पत्र-संपादन एक बहुत ही ईर्षा-युक्त कार्य है, जो चित्त की समग्र वृत्तियों का अपहरण कर लेता है। उन्होंने इसे मनोरंजन का एक साधन और ख्याति-लाभ का एक यंत्र समझा था। इसके द्वारा जाति की कुछ सेवा करना चाहते थे। इससे द्रव्योपार्जन का विचार तक न किया था। लेकिन नौका मे बैठकर उन्हें

अनुभव हुआ कि यात्रा उतनी सुखद नहीं है, जितनी समझी थी। लेखो के संशोधन, परिवर्द्धन और परिवर्तन, लेखक-गण से पत्र-व्यवहार, चित्ताकर्षक विषयो की खोज, और सहयोगियों से आगे बढ़ जाने की चिता मे उन्हे कानून का अध्ययन करने का अवकाश ही न मिलता था। सुबह को किताबे खोलकर बैठते कि १०० पृष्ठ समाप्त किए विना कदापि न उठूँगा, किंतु ज्यो ही डाक का पुलिंदा आ जाता, वह अधीर होकर उस पर टूट पड़ते, किताब खुली-की खुली रह जाती थी। वारंवार संकल्प करते कि अब नियमित रूप से पुस्तका-वलोकन करूँगा, और एक निर्दिष्ट समय से अधिक संपादन-कार्य मे न लगाऊँगा। लेकिन पत्रिकाओ का बंडल सामने आते ही दिल काबू के बाहर हो जाता। पत्रो की नोक-झोंक, पत्रिकाओं के तर्क-वितर्क, आलोचना-प्रत्यालोचना, कवियों के काव्य-चमत्कार, लेखको का रचना-कौशल इत्यादि सभी बातें उन पर जादू का काम करती। इस पर छपाई की कठिनाइयाँ, ग्राहक-सख्या बढ़ाने की चिता और पत्रिका को सर्वांगसुंदर बनाने की आकांक्षा और भी प्राणों को संकट मे डाले रहती थी। कभी-कभी उन्हे खेद होता कि व्यर्थ ही इस झमेले मे पड़ा। यहाँ तक कि परीक्षा के दिन सिर पर आ गए, और वह इसके लिये बिलकुल तैयार न थे। उसमे सम्मिलित न हुए। मन को समझाया कि अभी इस काम का श्रीगणेश है, इसी कारण ये सब बाधाएँ उपस्थित होती है। अगले वर्ष यह

काम एक सुव्यवस्थित रूप मे आ जायगा, और तब मैं निश्चिंत होकर परीक्षा मे बैठूँगा। पास कर लेना क्या कठिन है। ऐसे बुद्धू पास हो जाते हैं, जो एक सीधा-सा लेख भी नहीं लिख, सकते, तो क्या मैं ही रह जाऊँगा। मानकी ने उनकी ये बातें सुनीं, तो ख़ूब दिल के फफोले फोड़े—'मैं तो जानती थी कि यह धुन तुम्हे मटियामेट कर देगी। इसीलिये बार-बार रोकती थी, लेकिन तुमने मेरी एक न सुनी। आप तो डूबे ही, मुझे भी ले डूबे।' उनके पूज्य पिता भी बिगड़े, हितैषियों ने भी समझाया—"अभी इस काम को कुछ दिनों के लिये स्थगित कर दो, कानून में उत्तीर्ण होकर निर्द्वंद्व देशोद्धार में प्रवृत्त हो जाना।" लेकिन ईश्वरचंद्र एक बार मैदान मे आकर भागना निंद्य समझते थे। हाँ, इन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि दूसरे साल परीक्षा के लिये तन मन से तैयारी करूँगा।

अतएव नए वर्ष के पदार्पण करते ही उन्होंने कानून की पुस्तकें संग्रह की, पाठ्य-क्रम निश्चित किया, रोज़नामचा लिखने लगे, और अपने चंचल और बहानेबाज़ चित्त को चारो ओर से जकड़ा, मगर चटपटे पदार्थों का आस्वादन करने के बाद सरल भोजन कब रुचिकर होता है। कानून में वे घातें कहाँ, वह उन्माद कहाँ, वे चोटें कहाँ, वह उत्तेजना कहाँ, वह हलचल कहाँ। बाबू साहब अब नित्य एक खोई हुई दशा में रहते। जब तक अपने इच्छानुकूल काम करते थे, चौबीस घंटों में घंटे-दो घंटे कानून भी देख लिया करते थे। उस नशे

ने मानसिक शक्तियों का शिथिल कर दिया। स्नायु निर्जीव हो गए। उन्हे ज्ञात होने लगा कि अब मैं कानून के लायक नहीं रहा, और इस ज्ञान ने क़ानून के प्रति उदासीनता का रूप धारण किया। मन मे संतोष-वृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारब्ध और पूर्व संस्कार के सिद्धांतों की शरण लेने लगे।

एक दिन मानकी ने कहा—"यह क्या बात है? क्या क़ानून से फिर जी-उचाट हुआ?"

ईश्वरचंद्र ने दुस्साहस-पूर्ण भाव से उत्तर दिया—"हाँ, भई, मेरा जी उससे भागता है।"

मानकी ने व्यंग्य से कहा—"बहुत कठिन है?"

ईश्वरचंद्र—कठिन नही है, और कठिन भी होता, तो मैं उससे डरनेवाला न था; लेकिन मुफ़्तवकालत का पेशा ही पतित प्रतीत होता है। ज्यो-ज्यो वकीलो की आंतरिक दशा का ज्ञान होता है, मुझे उस पेशे से घृणा होती जाती है। इसी शहर में सैकड़ों वकील और बैरिस्टर पड़े हुए हैं, लेकिन एक व्यक्ति भी ऐसा नही, जिसके हृदय मे दया हो, जो स्वार्थपरता के हाथों बिक न गया हो। छल और धूर्तता इस पेशे का मूल-तत्त्व है। इसके बिना किसी तरह निर्वाह नही। अगर कोई महाशय जातीय आंदोलन मे शरीक भी होते है, तो स्वार्थ-सिद्धि के लिये, अपना ढोल पीटने के लिये। इन लोगों का समग्र जीवन वासना-भक्ति पर अर्पित हो जाता है। दुर्भाग्य से हमारे देश का शिक्षित समुदाय इसी दर्गाह का मुजावर

होता जाता है, और यही कारण है कि हमारी जातीय संस्थाओं को शीघ्र वृद्धि नहीं होती। जिस काम मे हमारा दिल न हो, हम केवल ख्याति और स्वार्थ के लिये उसके कर्णधार बने हुए हों, वह कभी सफल नही हो सकता। यह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का अन्याय है, जिसने इस पेशे को इतना उच्च स्थान प्रदान कर दिया है। यह विदेशी सभ्यता का निकृष्टतम स्वरूप है कि देश का बुद्धि-बल स्वयं धनोपार्जन न करके दूसरों की पैदा की हुई दौलत पर चैन करना, शहद की मक्खी न बनकर चींटी बनना, अपने जीवन का लक्ष्य समझता है।

मानकी चिढ़कर बोली—"पहले तो तुम वकीलों की इतनी निंदा न करते थे।"

ईश्वरचंद्र ने उत्तर दिया—"तब अनुभव न था। बाहरी टीम-टाम ने वशीकरण कर दिया था।"

मानकी—क्या जाने तुम्हे पत्रों से क्यों इतना प्रेम है। मैं तो जिसे देखती हूँ, अपनी कठिनाइयों का रोना ही रोते हुए पाती हूँ। कोई अपने ग्राहकों से नए ग्राहक बनाने का अनुरोध करता है, कोई चंदा न वसूल होने की शिकायत करता है। बता दो कि कोई उच्च शिक्षा-प्राप्त मनुष्य कभी इस पेशे में आया है। जिसे कुछ नहीं सूझता, जिसके पास न कोई सनद है, न कोई डिग्री, वही पत्र निकाल बैठता है, और भूखों मरने की अपेक्षा रूखी रोटियो पर ही संतोष करता है। लोग विला-यत जाते हैं, कोई पढ़ता है डॉक्टरी, कोई इंजीनियरी, कोई

सिविल सर्विस। लेकिन आज तक न सुना कि कोई एडीटरी का काम सीखने गया हो। क्यों सीखे? किसी को क्या पड़ी है कि जीवन की महत्त्वाकांक्षाओं को ख़ाक मे मिलाकर त्याग और विराग में उम्र काटे। हाँ, जिनको सनक सवार हो गई हो, उनकी बात ही निराली है।

ईश्वरचंद्र—जीवन का उद्देश्य केवल धन-संचय करना ही नहीं है।

मानकी—अभी तुमने वकीलों की निंदा करते हुए कहा, ये लोग दू सरो की कमाई खाकर मोटे होते हैं। पत्र चलानेवाले भी तो दूसरों की ही कमाई खाते हैं।

ईश्वरचंद्र ने बग़ले झाँकते हुए कहा—"हम लोग दूसरों की कमाई खाते है, तो दूसरों पर जान भी देते हैं। वकीलों की भाँति किसी को लूटते नही।"

मानकी—यह तुम्हारी हठधर्मी है। वकील भी तो अपने मुवक्किलो के लिये जान लड़ा देते है। उनकी कमाई भी उतनी ही हलाल है, जितनी पत्रवालो की। अंतर केवल इतना है कि एक की कमाई पहाड़ी सोता है, दूसरे की बरसाती नाला। एक में नित्य जल-प्रवाह होता है, दूसरे मे नित्य धूल उड़ा करती है। बहुत हुआ, तो बरसात मे घड़ी-दो घड़ी के लिये पानी आ गया।

ईश्वर०—पहले तो मैं यही नहीं मानता कि वकीलों की कमाई हलाल है, और मान भी लूँ, तो किसी तरह यह नहीं

मान सकता कि सभी वकील फूलों की सेज पर सोते हैं। अपना-अपना भाग्य सभी जगह है। कितने ही वकील हैं, जो झूठी गवाहियाँ देकर पेट पालते हैं। इस देश में समाचार-पत्रों का प्रचार अभी बहुत कम है, इसी कारण पत्र-संचालकों की आर्थिक दशा अच्छी नही। योरप और अमेरिका में पत्र चलाकर लोग करोड़पति हो गए हैं। इस समय संसार के सभी समुन्नत देशों के सूत्रधार या तो समाचारपत्रों के संपादक और लेखक है, या पत्रों के स्वामी। ऐसे कितने ही अरब-पति है, जिन्होंने अपनी संपत्ति की नींव पत्रों पर ही खड़ी की थी......।

ईश्वरचंद्र सिद्ध करना चाहते थे कि धन, ख्याति और सम्मान प्राप्त करने का, पत्र-संचालन से उत्तम, और कोई साधन नही है, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसी जीवन मे सत्य और न्याय की रक्षा करने के सच्चे अवसर मिलते हैं। परंतु मानकी पर इस वक्तृता का ज़रा भी असर न हुआ। स्थूल दृष्टि को दूर की चीज़ें साफ नही दीखती। मानकी के सामने सफल संपादक का कोई उदाहरण न था।

(३)

१६ वर्ष गुज़र गए। ईश्वरचंद्र ने संपादकोय जगत् में ख़ूब नाम पैदा किया, जातीय आंदोलनों में अग्रसर हुए, पुस्तकें लिखीं, एक दैनिक पत्र निकाला, अधिकारियों के भी सम्मान-पात्र हुए। बड़ा लड़का बी० ए० में जा पहुँचा, छोटे लड़के

नीचे के दरजों में थे। एक लड़की का विवाह भी एक धन-संपन्न कुल मे किया। विदित यही होता था कि उनका जीवन बड़ा ही सुखमय है। मगर उनकी आर्थिक दशा अब भी संतोष-जनक न थी। खर्च आमदनी से बढ़ा हुआ था। घर की कई हजार की जायदाद हाथ से निकल गई, इस पर भी बैंक का कुछ-न-कुछ देना सिर पर सवार रहता था। बाजार मे भी उनकी साख न थी। कभी-कभी तो यहाँ तक नौबत आ जाती कि उन्हें बाजार का रास्ता छोड़ना पड़ता। अब वह अक्सर अपनी युवा-वस्था की अदूरदर्शिता पर अफसोस करते थे। जातीय सेवा का भाव अब भी उनके हृदय मे तरंगे मारता था; लेकिन काम तो वह करते थे, और यश वकीलो और सेठो के हिस्सों मे आ जाता था। उनको गिनती अभी तक छुटभैयों मे थी। यद्यपि सारा नगर जानता था कि यहाँ के सार्वजनिक जीवन के प्राण वही हैं, पर उनका यथार्थ सम्मान न होता था। इन्ही कारणों से ईश्वरचंद्र को अब संपादन-कार्य से अरुचि होती थी। दिनादिन उनका उत्साह क्षीण होता जाता था, लेकिन इस जाल से निकलने का कोई उपाय न सूझता था। उनकी रचना मे अब सजीवता न थो, न लेखनी में शक्ति। उनके पत्र और पत्रिका दोनो ही से उदासीनता का भाव झलकता था। उन्होंने सारा भार सहायकों पर छोड़ दिया था, खुद बहुत कम काम करते थे। हाँ, दोनो पत्रो की जड़ जम चुकी थी, इसलिये ग्राहक-संख्या कम न होने पाती थी। वे अपने नाम पर चलते थे।

लेकिन इस संघर्ष और संग्राम के काल मे उदासीनता का निबाह कहाँ ! "गौरव" क कई प्रतियोगी खड़े हो गए, जिनके नवीन उत्साह ने "गौरव" से बाज़ी मार ली। उसका बाजार ठंढा होने लगा। नए प्रतियोगियों का जनता ने बड़े हर्ष से स्वागत किया। उनकी उन्नति होने लगी। यद्यपि उनके सिद्धात भी वही, लेखक भी वही, विषय भी वही थे, लेकिन आगंतुकों ने उन्ही पुरानी बातों में नई जान डाल दी। उनका उत्साह देख ईश्वरचंद्र को भी जोश आया कि एक बार फिर अपनी रुकी हुई गाड़ी मे जोर लगाऊँ; लेकिन न अपने मे सामर्थ्य थी, न कोई हाथ बँटानेवाला नजर आता था। इधर-उधर निराश नेत्रों से देखकर हतोत्साह हो जाते थे। हा ! मैने अपना सारा जीवन सार्वजनिक कार्यों मे व्यतीत किया, खेत बोया, सींचा, दिन का दिन और रात को रात न समझा, धूप मे जला, पानी मे भीगा, और इतने परिश्रम के बाद जब फसल काटने के दिन आए, तो मुझमे हँसिया पकड़ने का भी बूता नही। दूसरे लोग, जिनका उस समय कही पता न था, नाज काट-काटकर खलिहान भरे लेते हैं, और मै खड़ा मुँह ताकता हूँ। उन्हे पूरा विश्वास था कि अगर कोई उत्साहशील युवक मेरा शरीक हो जाता, तो "गौरव" अब भी अपने प्रतिद्वंद्वियों को परास्त कर सकता। सभ्य-समाज मे उनकी धाक जमी हुई थी, परिस्थिति उनके अनुकूल थी। ज़रूरत केवल ताज़े खून की थी। उन्हें अपने बड़े लड़के से ज्यादा उपयुक्त इस काम के लिये और कोई न दीखता था। उसकी

रुचि भी इस काम की ओर थी, पर मानकी के भय से वह इस विचार को जबान पर न ला सके थे। इसी चिंता मे दो साल गुज़र गए, और यहाँ तक नौबत पहुँची कि या तो "गौरव" का टाट उलट दिया जाय, या उसे फिर सँभाला जाय। ईश्वरचंद्र ने इसके पुनरुद्धार के लिये अंतिम उद्योग करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। इसके सिवा और कोई उपाय न था। यह पत्रिका उनके जीवन का सर्वस्व थी। उसे बंद करने की वह कल्पना भी न कर सकते थे। यद्यपि उनका स्वास्थ्य अच्छा न था, पर प्राण-रक्षा की स्वाभाविक इच्छा ने उन्हे अपना सब कुछ अपनी पत्रिका पर न्योछावर करने का उद्यत कर दिया। फिर दिन-के-दिन लिखने पढ़ने मे रत रहने लगे। एक क्षण के लिये भी सिर न उठाते। "गौरव" के लेखो मे फिर सजीवता का उद्भव हुआ, विद्वज्जनो में फिर उसकी चर्चा होने लगी, सहयोगियो ने फिर उसके लेखो को उद्धृत करना शुरू किया, पत्रिकाओं मे फिर उसकी प्रशंसा-सूचक आलोचनाएँ निकलने लगी। पुराने उस्ताद की ललकार फिर अखाड़े मे गूँजने लगी।

लेकिन पत्रिका के पुनः संस्कार के साथ उनका शरीर और भी जर्जर होने लगा। हृद्-रोग के लक्षण दिखाई देने लगे। रक्त की न्यूनता से मुख पर पीलापन छा गया। ऐसी दशा मे वह सुबह से शाम तक अपने काम मे तल्लीन रहते। देश मे धन और श्रम का संग्राम छिड़ा हुआ था। ईश्वरचंद्र की सदय प्रकृति ने उन्हे श्रम का सपक्षी बना दिया था। धन-वादियों का

खंडन और प्रतिवाद करते हुए उनके ख़ून में गरमी आ जाती थी, शब्दों से चिनगारियाँ निकलने लगती थीं, यद्यपि ये चिनगारियाँ केंद्रस्थ गरमी अंत का किए देती थीं।

एक दिन रात के दस बज गए थे। सरदी ख़ूब पड रही थी। मानकी दबे-पैर उनके कमरे मे आई। दीपक की ज्योति में उनके मुख का पीलापन और भी स्पष्ट हो गया था। वह हाथ मे कलम लिए किसी विचार मे मग्न थे। मानकी के आने की उन्हें ज़रा भी आहट न मिली। मानकी एक क्षण तक उन्हें वेदनायुक्त नेत्रों से ताकती रही। तब बोली—"अब तो यह पोथा बंद करो। आधी रात होने को आई। खाना पानी हुआ जाता है।"

ईश्वरचंद्र ने चौंककर सिर उठाया, और बोले— 'क्यों क्या आधी रात हो गई? नहीं, अभी मुश्किल से दस बजे होंगे। मुझे अभी ज़रा भी भूख नहीं है।"

मानकी—कुछ थोड़ा-सा खा लेना।

ईश्वर०—एक ग्रास भी नहीं। मुझे इसी समय अपना लेख समाप्त करना है।

मानकी—मैं देखती हूँ, तुम्हारी दशा दिन-दिन बिगड़ती जाती है, दवा क्यों नहीं करते? जान खपाकर थोड़े ही काम किया जाता है।

ईश्वर०—अपनी जान को देखूँ या इस घोर संग्राम को देखूँ, जिसने समस्त देश मे हलचल मचा रक्खी है। हज़ारों-लाखों जानों की हिमायत में एक जान न भी रहे, तो क्या चिंता!

मानकी—कोई सुयोग्य सहायक क्यों नही रख लेते ?

ईश्वरचन्द्र ने ठंढी साँस लेकर कहा—"बहुत खोजता हूँ, पर कोई नही मिलता। एक विचार कई दिनो से मेरे मन में उठ रहा है, अगर तुम धैर्य से सुनना चाहो, तो कहूँ।"

मानकी—कहो, मानने लायक होगा, तो मानूँगी क्यों नही।

ईश्वरचंद्र—मैं चाहता हूँ कि कृष्णचंद्र को अपने काम में शरीक कर लूँ। अब तो वह एम्० ए० भी हो गया। इस पेशे से उसे रुचि भी है। मालूम होता है, ईश्वर ने उसे इसी काम के लिये बनाया है।

मानकी ने अवहेलना-भाव से कहा—"क्या अपने साथ उसे भी ले डूबने का इरादा है? कोई घर की सेवा करनेवाला भी चाहिए कि सब देश की ही सेवा करेंगे।"

ईश्वर०—कृष्णचंद्र यहाँ बुरा न रहेगा।

मानकी—क्षमा कीजिए। बाज आई। वह कोई दूसरा काम करेगा, जहाँ चार पैसे मिले। यह घर-फूँक काम आप ही को मुबारक रहे।

ईश्वर०—वकालत मे भेजोगी, पर देख लेना, पछताना पड़ेगा। कृष्णचंद्र उस पेशे के लिये सर्वथा अयोग्य है।

मानकी—वह चाहे मजूरी करे, पर इस काम मे न डालूँगी।

ईश्वर०—तुमने मुझे देखकर समझ लिया कि इस काम मे घाटा-ही-घाटा है। पर इसी देश में ऐसे भाग्यवान् लोग

मौजूद है, जो पत्रो की बदौलत धन और कीर्ति से मालामाल हो रहे हैं।

मानकी—इस काम मे तो अगर कंचन भी बरसे, तो मैं कृष्ण को न आने दूँ। सारा जीवन वैराग्य मे कट गया। अब कुछ दिन भोग भी करना चाहती हूँ।

यह जाति का सच्चा सेवक अंत को जातीय कष्टों के साथ रोग के कष्टों को न सह सका। इस वार्तालाप के बाद मुश्किल से ६ महीने गुज़रे थे कि ईश्वरचंद्र ने संसार से प्रस्थान किया। उनका सारा जीवन सत्य के पोषण, न्याय की रक्षा और अन्याय के विरोध मे कटा था। अपने सिद्धांतों के पालन में उन्हें कितनी ही बार अधिकारियों की तीव्र दृष्टि का भाजन बनना पड़ा था, कितनी ही बार जनता का अविश्वास, यहाँ तक कि मित्रों की अवहेलना भी सहनी पड़ी थी, पर उन्होने अपनी आत्मा का कभी खून नही किया। आत्मा के गौरव के सामने धन को कुछ न समझा।

इस शोक-समाचार के फैलते ही सारे शहर मे कुहराम मच गया। बाज़ार बंद हो गए, शोक के जलसे होने लगे, पत्रों ने प्रतिद्वंद्विता का भाव त्याग दिया, चारो ओर से एक ध्वनि आती थी कि देश से एक स्वतंत्र, सत्यवादी और विचार-शील संपादक तथा एक निर्भीक, त्यागी देशभक्त उठ गया, और उसका स्थान चिरकाल तक ख़ाली रहेगा। ईश्वरचंद्र इतने बहुजन-प्रिय है, इसका उनके घरवालो को ध्यान भी न था।

उनका शव निकला, तो सारा शहर अर्थी के साथ था। उनके स्मारक बनने लगे। कहीं छात्रवृत्तियाँ दी गईं, कहीं उनके चित्र बनवाए गए, पर सबसे अधिक महत्त्वशाली वह मूर्ति थी, जो श्रमजीवियों की ओर से उनकी स्मृति मे प्रतिष्ठित हुई थी।

मानकी को अपने पतिदेव का लोकसम्मान देखकर सुखमय कुतूहल हाता था। उसे अब खेद होता था कि मैंने उनके दिव्य गुणों को न पहचाना, उनके पवित्र भावों और उच्च विचारों की कदर न की। सारा नगर उनके लिये शोक मना रहा है। उनकी लेखनी ने अवश्य इनके ऐसे उपकार किए हैं, जिन्हे ये भूल नहीं सकते; और, मै अंत तक उनके मार्ग का कंटक बनी रही, सदैव तृष्णा के वश उनका दिल दुखाती रही। उन्होंने मुझे साने मे मढ़ दिया होता, एक भव्य भवन बनवाया होता, या कोई जायदाद पैदा कर ली होती, तो मै ख़ुश होती, अपना धन्य भाग्य समझती। लेकिन तब देश मे कौन उनके लिये आँसू बहाता, कौन उनका यश गाता। यहीं एक-से-एक धनिक पुरुष पड़े हुए हैं। वे दुनिया से चले जाते है, और किसी को खबर भी नहीं होती। सुनती हूँ, पतिदेव के नाम से छात्रों को वृत्तियाँ दी जायँगी। जो लड़के वृत्ति पाकर विद्या-लाभ करेंगे, वे मरते दम तक उनकी आत्मा को आशीर्वाद देंगे। शोक! मैंने उनके आत्मत्यांग का मर्म न जाना। स्वार्थ ने मेरी आँखों पर पर्दा डाल दिया था।

मानकी के हृदय में ज्यों-ज्यों ये भावनाएँ जाग्रत होती जाती थीं, उसकी पति के प्रति श्रद्धा बढ़ती जाती थी। वह गौरवशीला स्त्री थी। इस कीर्तिगान और जनसम्मान से उसका मस्तक ऊँचा हो जाता था। इसके उपरांत अब उसकी आर्थिक दशा पहले की-सी चिंताजनक न थी। कृष्णचंद्र के असाधारण अध्यवसाय और बुद्धि-बल ने उनकी वकालत को चमका दी थी। वह जातीय कामों मे अवश्य भाग लेते थे, पत्रों मे यथाशक्ति लेख भी लिखते थे, इस काम से उन्हे विशेष प्रेम था। लेकिन मानकी उन्हे हमेशा इन कामो से दूर रखने की चेष्टा करती रहती थी। कृष्णचंद्र अपने ऊपर जब्र करते थे। मा का दिल दुखाना उन्हे मजूर न था।

ईश्वरचंद्र की पहली बरसी थी। शाम को ब्रह्मभोज हुआ। आधी रात तक ग़रीबों को खाना दिया गया। प्रातःकाल मानकी अपनी सेजगाड़ी पर बैठकर गंगा नहाने गई। यह उसकी चिर-संचित अभिलाषा थी, जो अब पुत्र की मातृभक्ति ने पूरी कर दी थी। वह उधर से लौट रही थी कि उसके कानो मे बैंड की आवाज़ आई, और एक क्षण के बाद एक जलूस सामने आता हुआ दिखाई दिया। पहले कोतल घोड़ों की माला थी, उसके बाद अश्वारोही स्वयंसेवकों की सेना। उसके पीछे सैकड़ों सवारी-गाड़ियाँ थी। सबके पीछे एक सजे हुए रथ पर किसी देवता की मूर्ति थी। कितने ही आदमी इस विमान को खींच रहे थे। मानकी सोचने लगी—'यह किस देवता का विमान

है ? न तो रामलीला के ही दिन है, न रथयात्रा के। सहसा उसका दिल ज़ोर से उछल पड़ा। यह ईश्वरचंद्र की मूर्ति थी, जो श्रमजीवियों की ओर से बनवाई गई थी, और लोग उसे बड़े मैदान में स्थापित करने को लिए जाते थे। वही स्वरूप था, वही वस्त्र, वही मुखाकृति, मूर्तिकार ने विलक्षण कौशल दिखाया था! मानकी का हृदय बाँसों उछलने लगा। उत्कंठा हुई कि परदे से निकलकर इस जलूस के सम्मुख पति के चरणो पर गिर पड़ूँ। पत्थर की मूर्ति मानव-शरीर से अधिक श्रद्धास्पद होती है। किंतु कौन मुँह लेकर मूर्ति के सामने जाऊँ? उसकी आत्मा ने कभी उसका इतना तिरस्कार न किया था। मेरी धन-लिप्सा उनके पैरो की बेड़ी न बनती, तो वह न-जाने किस सम्मान-पद पर पहुँचते! मेरे कारण उन्हे कितना क्षोभ हुआ!! घर-वालों की सहानुभूति बाहरवालों के सम्मान से कही उत्साह-जनक होती है। मैं इन्हें क्या कुछ न बना सकती थी, पर कभी उभरने न दिया। स्वामीजी, मुझे क्षमा करो, मैं तुम्हारी अप-राधिनी हूँ, मैंने तुम्हारे पवित्र भावो की हत्या की है, मैंने तुम्हारी आत्मा को दुखी किया है। मैंने बाज को पिंजड़े मे बंद करके रक्खा था। शोक!

सारे दिन मानकी को यही पश्चात्ताप होता रहा। शाम को उससे न रहा गया। वह अपनी कहारिन को लेकर पैदल उस देवता के दर्शन को चली, जिसकी आत्मा को उसने दुःख पहुँचाया था।

संध्या का समय था। आकाश पर लालिमा छाई हुई थी। अस्ताचल की ओर कुछ बादल भी हो आए थे। सूर्यदेव कभी मेघ-पट मे छिप जाते थे, कभी वाहर निकल आते थे। इस धूप-छाँह मे ईश्वरचंद्र की मूर्ति दूर से कभी प्रभात की भाँति प्रसन्न-मुख और कभी संध्या की भाँति मलिन देख पड़ती थी। मानकी उसके निकट गई, पर उसके मुख की ओर न देख सकी। उन आँखों मे करुण वेदना थी। मानकी को ऐसा मालूम हुआ, मानो वह मेरी ओर तिरस्कार-पूर्ण भाव से देख रही है। उसकी आँखों से ग्लानि और लज्जा के आँसू बहने लगे। वह मूर्ति के चरणों पर गिर पड़ी, और मुँह ढाँपकर रोने लगी। मन के भाव द्रवित हो गए।

वह घर आई, तो नौ बज गए थे। कृष्णचंद्र उसे देखकर बोले—अम्मा, आज आप इस वक्त कहाँ गई थी?

मानकी ने हर्ष से कहा—गई थी तुम्हारे बाबूजी की प्रतिमा के दर्शन करने। ऐसा मालूम होता है, वह साक्षात खड़े हैं।

कृष्ण०—जयपुर से बनकर आई है।

मानकी—पहले तो लोग उनका इतना आदर न करते थे।

कृष्ण०—उनका सारा जीवन सत्य और न्याय की वकालत मे गुजरा है। ऐसे ही महात्माओं की पूजा होती है।

मानकी—लेकिन उन्होंने वकालत कब की?

कृष्ण०—हाँ, यह वकालत नहीं की, जो मैं और मेरे हजारों

भाई कर रहे हैं, जिससे न्याय और धर्म का ख़ून हो रहा है। उनको वकालत उच्च कोटि की थी।

मानकी—अगर ऐसा है, तो तुम भी वही वकालत क्यों नही करते?

कृष्ण०—बहुत कठिन है। दुनिया का जंजाल अपने सिर लीजिए, दूसरो के लिये रोइए, दोनों की रक्षा के लिये लट्ठ लिए फिरिए, अधिकारियों के मुँह आइए, इनका क्रोध और कोप सहिए, और इस कष्ट, अपमान और यंत्रणा का पुरस्कार क्या है? अपनो अभिलाषाओं की हत्या।

मानकी—लेकिन यश तो होता है।

कृष्ण०—हाँ, यश होता है। लोग आशीर्वाद देते हैं।

मानकी—जब इतना यश मिलता है, तो तुम भी वही काम करो। हम लोग उस पवित्र आत्मा को और कुछ सेवा नहीं कर सकते, तो उसी वाटिका को सींचते जायँ, जो उन्होंने अपने जीवन मे इतने उत्सर्ग और भक्ति से लगाई। इससे उनकी आत्मा को शांति मिलेगी।

कृष्णचंद्र ने माता को श्रद्धामय नेत्रों से देखकर कहा—करूँ तो, मगर संभव है, तब यह टीम-टाम न निभ सके। शायद फिर वही पहले की-सी दशा हो जाय।

मानकी—कोई हरज नहीं। संसार मे यश तो होगा। आज तो अगर धन की देवी भी मेरे सामने आवे, तो मैं आँखें न नीची करूँ।

आभूषण

(१)

आभूषणों की निंदा करना हमारा उद्देश्य नहीं है। हम असहयोग का उत्पीड़न सह सकते हैं; पर ललनाओं के निर्दय, घातक वाक्य-बाणो को नहीं सह सकते। तो भी इतना अवश्य कहेंगे कि इस तृष्णा की पूर्ति के लिये जितना त्याग किया जाता है, उसका सदुपयोग करने से महान् पद प्राप्त हो सकता है।

यद्यपि हमने किसी रूप-हीना महिला को आभूषणों की सजावट से रूपवती होते नही देखा, तथापि हम यह भी मान लेते हैं कि रूप के लिये आभूषणों की उतनी ही जरूरत है, जितनी घर के लिये दीपक की। किंतु शारीरिक शोभा के लिये हम मन को कितना मलिन, चित्त को कितना अशांत और आत्मा को कितना कलुषित बना लेते हैं, इसका हमे कदाचित् ज्ञान ही नही होता। इस दीपक की ज्योति मे आँखें धुँधली हो जाती है। यह चमक-दमक कितनी ईर्षा, कितने द्वेष, कितनी प्रतिस्पर्द्धा, कितनी दुश्चिता और कितनी दुराशा का कारण है; इसकी केवल कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इन्हे भूषण नहीं, दूषण कहना अधिक उपयुक्त है। नहीं तो यह कब हो सकता था कि कोई नववधू, पति के घर आने के तीसरे ही दिन, अपने पति से कहती कि "मेरे पिता ने तुम्हारे पल्ले बाँधकर मुझे तो कुएँ में ढकेल दिया!"

शीतला आज अपने गाँव के ताल्लुकेदार कुँअर सुरेशसिंह की नवविवाहिता वधू को देखने गई थी। उसके सामने ही वह मंत्र-मुग्ध-सी हो गई। बहू के रूप-लावण्य पर नहीं, उसके आभूषणो की जगमगाहट पर उसकी टकटकी लगी रही। और, वह जब से घर लौटकर आई, उसकी छाती पर साँप लोटता रहा। अंत को ज्यो ही उसका पति घर आया, वह उस पर बरस पड़ी, और दिल में भरा हुआ गुबार पूर्वोक्त शब्दों मे निकल पड़ा। शीतला के पति का नाम विमलसिंह था। उसके पुरखे किसी जमाने मे इलाक़ेदार थे। इस गाँव पर भी उन्हीं का सोलहो आने अधिकार था। लेकिन अब इस घर की दशा हीन हो गई है। सुरेशसिंह के पिता ज़मीदारी के काम मे दक्ष थे। विमलसिंह का सब इलाक़ा किसी-न-किसी प्रकार से उनके हाथ आ गया। विमल के पास सवारी का टट्टू भी न था। उसे दिन मे दो बार भोजन भो मुशकिल से मिलता था। उधर सुरेश के पास हाथी, मोटर और कई घोड़े थे; दस-पाँच बाहर के आदमी नित्य द्वार पर पड़े रहते थे। पर इतनी विषमता होने पर भी दोनो मे भाई-चारा निभाया जाता था, शादी-ब्याह मे, मूँडन-छेदन में परस्पर आना-जाना होता रहता था। सुरेश विद्या-प्रेमी थे, हिंदुस्थान मे ऊँची शिक्षा समाप्त करके वह योरप चले गए, और सब लोगो की शंकाओं के विपरीत वहाँ से आर्य-सभ्यता के परम भक्त बनकर लौटे थे। वहाँ के जड़वाद, कृत्रिम भोगलिप्सा और अमानुषिक मदांधता ने

उनकी आँखें खोल दी थीं। पहले वह घरवालों के बहुत ज़ोर देने पर भी विवाह करने को राज़ी नहीं हुए। लड़की से पूर्व परिचय हुए विना प्रणय नहीं कर सकते थे। पर योरप से लौटने पर उनके वैवाहिक विचारों मे बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। उन्होंने उसी पहले की कन्या से, विना उसके आचार-विचार जाने हुए, विवाह कर लिया। अब वह विवाह को प्रेम का बंधन नहीं, धर्म का वंधन समझते थे। उसी सौभाग्यवती वधू को देखने के लिये आज शीतला, अपनी सास के साथ, सुरेश के घर गई थी। उसी के आभूषणों की छटा देखकर वह मर्माहत-सी हो गई है। विमल ने व्यथित होकर कहा—तो माता-पिता से कहा होता, सुरेश से ब्याह कर देते। वह तुम्हे गहनों से लाद सकते थे।

शीतला—तो गाली क्यों देते हो?

विमल—गाली नही देता, बात कहता हूँ। तुम-जैसी सुंदरी को उन्होंने नाहक मेरे साथ ब्याहा।

शीतला—लजाते तो हो नही, उलटे और ताने देते हो!

विमल—भाग्य मेरे वश मे नहीं है। इतना पढ़ा भी नही हूँ कि कोई बड़ी नौकरी करके रुपए कमाऊँ।

शीतला—यह क्यों नही कहते कि प्रेम ही नही है। प्रेम हो, तो कंचन बरसने लगे।

विमल—तुम्हें गहनों से बहुत प्रेम है?

शीतला—सभी को होता है। मुझे भी है।

विमल—अपने को अभागिनी समझती हो ?

शीतला—हूँ ही, समझना कैसा ? नहीं तो क्या दूसरे को देखकर तरसना पड़ता ?

विमल—गहने बनवा दूँ, तो अपने को भाग्यवती समझने लगोगी ?

शीतला—(चिढ़कर) तुम तो इस तरह पूछ रहे हो, जैसे सुनार दरवाजे पर बैठा है।

विमल—नही, सच कहता हूँ, बनवा दूँगा। हाँ, कुछ दिन सबर करना पड़ेगा।

(२)

समर्थ पुरुषों को बात लग जाती है, तो वे प्राण ले लेते हैं। सामर्थ्य-हीन पुरुष अपनी ही जान पर खेल जाता है। विमल-सिंह ने घर से निकल जाने की ठानी। निश्चय किया, या तो इसे गहनों से ही लाद दूँगा या वैधव्य-शोक से; या तो आभूषण ही पहनेगी या सेंदुर को भी तरसेगी।

दिन-भर वह चिंता में डूबा पड़ा रहा। शीतला को उसने प्रेम से संतुष्ट करना चाहा था। आज अनुभव हुआ कि नारी का हृदय प्रेम-पाश से नहीं बँधता, कंचन के पाश ही से बँध सकता है। पहर रात जाते-जाते वह घर से चल खड़ा हुआ। पीछे फिरकर भी न देखा। ज्ञान से जागे हुए विराग में चाहे मोह का संस्कार हो, पर नैराश्य से जागा हुआ विराग अचल होता है। प्रकाश में इधर-उधर की वस्तुओं को देखकर मन

विचलित हो सकता है। पर अंधकार में किसका साहस है, जो लीक से जौ-भर भी हट सके।

विमल के पास विद्या न थी, कला-कौशल भी न था; उसे केवल अपने कठिन परिश्रम और कठिन आत्मत्याग ही का आधार था। वह पहले कलकत्ते गया। वहाँ कुछ दिन तक एक सेठ की दरबानी करता रहा। वहाँ जो सुन पाया कि रंगून में मज़दूरी अच्छी मिलती है, तो रंगून जा पहुँचा, और बंदर पर माल चढ़ाने-उतारने का काम करने लगा।

कुछ तो कठिन श्रम, कुछ खाने-पीने के असंयम और कुछ जल-वायु की ख़राबी के कारण वह बीमार हो गया। शरीर दुर्बल हो गया, मुख की कांति जाती रही; फिर भी उससे ज्यादा मेहनती मज़दूर बंदर पर दूसरा न था। और मज़दूर मज़दूर थे, पर यह मज़दूर तपस्वी था। मन में जो कुछ ठान लिया था, उसे पूरा करना ही उसके जीवन का एक-मात्र उद्देश्य था।

उसने घर को अपना कोई समाचार न भेजा। अपने मन से तर्क किया, घर मे कौन मेरा हितू है? गहनो के सामने मुझे कौन पूछता है? उसकी बुद्धि यह रहस्य समझने मे असमर्थ थी कि आभूषणों की लालसा रहने पर भी प्रणय का पालन किया जा सकता है! और मज़दूर प्रातःकाल सेरो मिठाई खाकर जल-पान करते; दिन-भर—दम-दम-भर पर—गाँजे, चरस और तमाखू के दम लगाते; अवकाश पाते, तो बाज़ार की सैर करते। कितनों ही को शराब का भी शौक था। पैसों के

बद्ले रुपए कमाते, तो पैसों की जगह रुपए ख़र्च भी कर डालते थे। किसी की देह पर साबित कपड़े तक न थे। पर विमल उन गिनती के दो-चार मज़दूरों मे से था, जो संयम से रहते थे, जिनके जीवन का उद्देश्य खा-पीकर मर जाने के सिवा कुछ और भी था। थोड़े ही दिनों मे उसके पास थोड़ी-सी संपत्ति हो गई। धन के साथ और मजदूरों पर दबाव भी बढ़ने लगा। यह प्रायः सभी जानते थे कि विमल जाति का कुलीन ठाकुर है। सब ठाकुर ही कहकर उसे पुकारते। संयम और आचार सम्मान-सिद्धि के मंत्र हैं। विमल मज़दूरों का नेता और महाजन हो गया।

विमल को रंगून मे काम करते तीन वर्ष हो चुके थे। संध्या हो गई थी। वह कई मज़दूरों के साथ समुद्र के किनारे बैठे बाते कर रहा था।

एक मज़दूर ने कहा—यहाँ की सभी स्त्रियाँ निठुर होती हैं। बेचारा झींगुर १० बरस से उस बर्मी स्त्री के साथ रहता था। कोई अपनी ब्याही जोरू से भी इतना प्रेम न करता होगा। उस पर इतना विश्वास करता था कि जो कुछ कमाता, उसके हाथ मे रख देता। तीन लड़के थे। अभी कल तक दोनो साथ-साथ खाकर लेटे थे। न कोई लड़ाई, न झगड़ा; न बात न चीत; रात को औरत न-जाने कब उठी, और न-जाने कहाँ चली गई। लड़कों को छोड़ गई। बेचारा झींगुर बैठा रो रहा है। सबसे बड़ी मुशकिल तो छोटे बच्चे की है। अभी कुल छः महीने का है। कैसे जिएगा, भगवान् ही जाने।

विमलसिह ने गंभीर भाव से कहा—गहने बनवाना था कि नहीं ?

मज़दूर—रुपए-पैसे तो औरत हो के हाथ में थे। गहने बनवाती, तो उसका हाथ कौन पकड़ता ?

दूसरे मज़दूर ने कहा—गहनों से तो लदी हुई थी। जिधर से निकल जाती थी, छम-छम की आवाज़ से कान भर जाते थे।

विमल—जब गहने बनवाने पर भी निठुराई की, तो यही कहना पड़ेगा कि यह जाति ही बेवफा होती है।

इतने मे एक आदमी आकर विमलसिह से बोला—चौधरी, अभी मुझे एक सिपाही मिला था। वह तुम्हारा नाम, गाँव और बाप का नाम पूछ रहा था। कोई बाबू सुरेशसिह हैं ?

विमल ने सशंक होकर कहा—हाँ, हैं। मेरे गाँव के इलाक़े-दार और बिरादरी के भाई हैं।

आदमी—उन्होंने थाने में कोई नोटिस छपवाया है कि जो विमलसिह का पता लगावेगा, उसे १,०००) का इनाम मिलेगा।

विमल—तो तुमने सिपाही को सब ठीक-ठीक बता दिया ?

आदमी—चौधरी, मैं कोई गँवार हूँ क्या ? समझ गया, कुछ दाल मे काला है; नही तो कोई इतने रुपए क्यो खर्च करता। मैंने कह दिया कि उनका नाम विमलसिह नही, जसोदा पाँड़े है। बाप का नाम सुक्खू बताया, और घर ज़िला झाँसी में। पूछने लगा, यहाँ कितने दिन से रहता है ? मैंने कहा, कोई

दस साल से। तब कुछ सोचकर चला गया। सुरेश बाबू से तुमसे कोई अदावत है क्या, चौधरी ?

विमल—अदावत तो नहीं थी, मगर कौन जाने, उनकी नीयत बिगड़ गई हो। मुझ पर कोई अपराध लगाकर मेरी जगह-ज़मीन पर हाथ बढ़ाना चाहते हों। तुमने बड़ा अच्छा किया कि सिपाही को उड़नघाई बताई।

आदमी—मुझसे कहता था कि ठीक-ठीक बता दो, तो ५०) तुम्हें भी दिला दूँ। मैंने सोचा—आप तो १,०००) की गठरी मारेगा, और मुझे ५०) दिलाने को कहता है। फटकार बता दी।

एक मज़दूर—मगर जो २००) देने को कहता, तो तुम सब ठीक-ठीक नाम-ठिकाना बता देते ? क्यों ? धत् तेरे लालची की !

आदमी—(लज्जित होकर) २००) नहीं, २,०००) भी देता, तो न बताता। मुझे ऐसा विश्वासघात करनेवाला मत समझो। जब जी चाहे, परख लो।

मज़दूरों में यों वाद-विवाद होता ही रहा, विमल आकर अपनी कोठरी में लेट गया। वह सोचने लगा—अब क्या करूँ ? जब सुरेश-जैसे सज्जन की नीयत बदल गई, तो अब किसका भरोसा करूँ ! नहीं, अब विना घर गए काम नहीं चलेगा। कुछ दिन और न गया, तो फिर कहीं का न होऊँगा। दो साल और रह जाता, तो पास में पूरे ५,०००) हो जाते। शीतला की इच्छा कुछ पूरी हो जाती। अभी तो सब मिलाकर ३,०००) ही होंगे, इतने में उसकी अभिलाषा न पूरी होगी।

ख़ैर, अभी चलूँ। छः महीने मे फिर लौट आऊँगा। अपनी जायदाद तो बच जायगी। नहीं, छः महीने रहने का क्या काम है? जाने-आने मे एक महीना लग जायगा। घर में १५ दिन से ज्यादा न रहूँगा। वहाँ कौन पूछता है, आऊँ या रहूँ, मरूँ या जिऊँ; वहाँ तो गहनों से प्रेम है।

इस तरह मन मे निश्चय करके वह दूसरे दिन रंगून से चल पड़ा।

(३)

संसार कहता है, गुण के सामने रूप की कोई हस्ती नही। हमारे नीति-शास्त्र के आचार्यों का भी यही कथन है। पर वास्तव मे यह कितना भ्रम-मूलक है! कुँअर सुरेशसिह की नववधू मंगलाकुमारी गृह-कार्य मे निपुण, पति के इशारे पर प्राण देने-वाली, अत्यंत विचारशीला, मधुर-भाषिणी और धर्म-भीरु थी; पर सौंदर्य-विहीन होने के कारण पति को आँखो से काँटे के समान खटकती थी। सुरेशसिह बात-बात पर उस पर झुँझलाते, पर घड़ी-भर मे पश्चात्ताप के वशीभूत होकर उससे क्षमा माँगते; किंतु दूसरे ही दिन फिर वही कुत्सित व्यापार शुरू हो जाता। विपत्ति यह थी कि उनके आचरण अन्य रईसों की भाँति भ्रष्ट न थे। वह दांपत्य जीवन ही मे आनंद, सुख, शांति, विश्वास, प्रायः सभी ऐहिक और पारमार्थिक उद्देश्य पूरा करना चाहते थे, और दांपत्य सुख से वंचित होकर उन्हे अपना समस्त जीवन नीरस, स्वाद-हीन और कुंठित जान पड़ता था। फल

यह हुआ कि मंगला को अपने ऊपर विश्वास न रहा। वह अपने मन से कोई काम करते हुए डरती कि स्वामी नाराज़ होंगे। स्वामी को खुश रखने के लिये अपनी भूलों को छिपाती, बहाने करती, झूठ बोलती। नौकरों को अपराध लगाकर आत्मरक्षा करना चाहती। पति को प्रसन्न रखने के लिये उसने अपने गुणों की, अपनी आत्मा की अवहेला की; पर उठने के बदले वह पति की नजरों से गिरती ही गई। वह नित्य नए शृंगार करती, पर लक्ष्य से दूर होती जाती। पति की एक मधुर मुसकान के लिये, उनके अधरों के एक मीठे शब्द के लिये, उसका प्यासा हृदय तड़प-तड़पकर रह जाता। लावण्य-विहीन स्त्री वह भिक्षुक नही है, जो चंगुल-भर आटे से संतुष्ट हो जाय। वह भी पति का संपूर्ण, अखंड प्रेम चाहती है, और कदाचित् सुंदरियों से अधिक; क्योंकि वह इसके लिये असा-धारण प्रयत्न और अनुष्ठान करती है। मंगला इस प्रयत्न मे निष्फल होकर और भी संतप्त होती थी।

धीरे धीरे पति पर से उसकी श्रद्धा उठने लगी। उसने तर्क किया कि ऐसे क्रूर, हृदय-शून्य, कल्पना-हीन मनुष्य से मै भी उसी का-सा व्यवहार करूँगी। जो पुरुष केवल रूप का भक्त है, वह प्रेम-भक्ति के योग्य नहीं। इस प्रत्याघात ने समस्या और भी जटिल कर दी।

मगर मंगला को केवल अपनी रूप-हीनता ही का रोना न था, शीतला का अनुपम रूप-लालित्य भी उसकी कामनाओं का

बाधक था, बल्कि यही उसकी आशा-लताओं पर पड़नेवाला तुषार था। मंगला सुंदरी न सही, पर पति पर जान देती थी। जो अपने को चाहे, उससे हम विमुख नहीं हो सकते ; प्रेम की शक्ति अपार है। पर शीतला की मूर्ति सुरेश के हृदय-द्वार पर बैठी हुई मंगला को अंदर न जाने देती थी, चाहे वह कितना ही वेष बदलकर आवे। सुरेश इस मूर्ति को हटाने की चेष्टा करते थे, उसे बलात् निकाल देना चाहते थे ; किंतु सौंदर्य का आधिपत्य धन के आधिपत्य से कम दुर्निवार नहीं होता। जिस दिन शीतला इस घर में मंगला का मुँह देखने आई थी, उसी दिन सुरेश की आँखों ने उसकी मनोहर छवि की एक झलक देख ली थी। वह एक झलक मानो एक क्षणिक क्रिया थी, जिसने एक ही धावे में समस्त हृदय-राज्य को जीत लिया— उस पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

सुरेश एकांत में बैठे हुए शीतला के चित्र को मंगला से मिलाते, यह निश्चय करने के लिये कि उनमें अंतर क्या है? एक क्यों मन को खींचती है, दूसरी क्यों उसे हटाती है? पर उनके मन का यह खिंचाव केवल एक चित्रकार या कवि का रसास्वादन-मात्र था। वह पवित्र और वासनाओं से रहित था। वह मूर्ति केवल उनके मनोरंजन की सामग्री-मात्र थी। वह अपने मन को बहुत समझाते, संकल्प करते कि अब मंगला को प्रसन्न रक्खूँगा। यदि वह सुंदरी नहीं है, तो उसका क्या दोष? पर उनका यह सब प्रयास मंगला के सम्मुख जाते ही

विफल हो जाता था। वह बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से मंगला के मन के बदलते हुए भावों को देखते ; पर एक पक्षाघात-पीड़ित मनुष्य की भाँति घी के घड़े को लुढ़कते देखकर भी रोकने का कोई उपाय न कर सकते। परिणाम क्या होगा, यह सोचने का उन्हे साहस ही न होता। पर जब मंगला ने अंत को बात-बात मे उनकी तीव्र आलोचना करना शुरू कर दिया, वह उनसे उच्छृंखलता का व्यवहार करने लगी, तब उसके प्रति उनका वह उतना सौहार्द भी विलुप्त हो गया। घर मे आना-जाना ही छोड़ दिया।

एक दिन संध्या के समय बड़ी गरमी थी। पंखा झलने से आग और भी दहकती थी। कोई सैर करने बगीचों में भी न जा सकता था। पसीने की भाँति शरीर से सारी स्फूर्ति बह गई थी। जो जहाँ था, वहीं मुर्दा-सा पड़ा था। आग से सेंके हुए मृदंग की भाँति लोगों के स्वर कर्कश हो गए थे। साधारण बातचीत में भी लोग उत्तेजित हो जाते, जैसे साधारण संघर्ष से वन के वृक्ष जल उठते हैं। सुरेशसिंह कभी चार कदम टहलते, फिर हाँफकर बैठ जाते। नौकरो पर झुँझला रहे थे कि जल्द-जल्द छिड़काव क्यों नहीं करते ? सहसा उन्हे अंदर से गाने की आवाज़ सुनाई दी। चौंके, फिर क्रोध आया। मधुर गान कानों को अप्रिय जान पड़ा। यह क्या बेवक़ की शहनाई है ! यहाँ गरमी के मारे दम निकल रहा है, और इन सबको गाने की सूझी है ! मंगला ने बुलाया होगा, और क्या ! लोग नाहक़

कहते है कि स्त्रियों के जीवन का आधार प्रेम है। उनके जीवन का आधार वही भोजन, निद्रा, राग-रंग, आमोद-प्रमोद है, जो समस्त प्राणियों का है। घंटे-भर तो सुन चुका। यह गीत कभी बंद भी होगा या नही ; सब व्यर्थ मे गला फाड़-फाड़-कर चिल्ला रही हैं।

अंत को न रहा गया। जनानखाने में आकर वोले—"यह तुम लोगों ने क्या काँव-काँव मचा रक्खी है? यह गाने-वजाने का कौन-सा समय है? वाहर वैठना मुशकिल हो गया!"

सन्नाटा छा गया, जैसे शोर-गुल मचानेवाले बालकों में मास्टर पहुँच जाय! सभी ने सिर झुका लिए, और सिमट गईं।

मंगला तुरंत उठकर सामनेवाले कमरे मे चली गई। पति को बुलाया, और आहिस्ते से वोली—क्यों इतना बिगड़ रहे हो?

"मैं इस व़क्त गाना नही सुनना चाहता।"

"तुम्हे सुनाता ही कौन है? क्या मेरे कानों पर भी तुम्हारा अधिकार है?"

"फ़ुजूल की बमचख—"

"तुमसे मतलब?"

"मै अपने घर मे यह कोलाहल न मचने दूँगा!"

"तो मेरा घर कही और है?"

सुरेशसिंह इसका उत्तर न देकर बोले—इन सबसे कह दो, फिर किसी वक़्त आवें।

मंगला—इसलिये कि तुम्हे इनका आना अच्छा नहीं लगता ?

"हाँ, इसीलिये !"

"तुम क्या सदा वही करते हो, जो मुझे अच्छा लगे ? तुम्हारे यहाँ मित्र आते हैं, हँसी-ठट्ठे की आवाज अंदर सुनाई देती है। मै कभी नहीं कहती कि इन लोगों का आना बंद कर दो। तुम मेरे कामो मे दस्तंदाजी क्यो करते हो ?"

सुरेश ने तेज होकर कहा—इसलिये। कि मै घर का स्वामी हूँ।

मंगला—तुम बाहर के स्वामी हो; यहाँ मेरा अधिकार है।

सुरेश—क्यों व्यर्थ की बक-बक करती हो ? मुझे चिढ़ाने से क्या मिलेगा ?

मंगला जरा देर चुपचाप खड़ी रही। वह पति के मनोगत भावों की मीमांसा कर रही थी। फिर बोली—अच्छी बात है। अब इस घर मे मेरा कोई अधिकार नही, तो न रहूँगी। अब तक भ्रम मे थी। आज तुमने वह भ्रम मिटा दिया। मेरा इस घर पर अधिकार कभी नही था। जिस स्त्री का पति के हृदय पर अधिकार नही, उसका उसकी संपत्ति पर भी कोई अधिकार नही हो सकता।

सुरेश ने लज्जित होकर कहा—बात का बतंगड़ क्यो बनाती हो ! मेरा यह मतलब न था। कुछ-का-कुछ समझ गई।

मंगला—मन की बात आदमी के मुँह से अनायास ही निकल जाती है। फिर सावधान होकर हम अपने भावो को छिपा लेते हैं।

सुरेश को अपनी असज्जनता पर दुःख तो हुआ, पर इस भय से कि मैं इसे जितना ही मनाऊँगा, उतना ही यह और जली-कटी सुनावेगी, उसे वहीं छोड़कर बाहर चले आए।

प्रातःकाल ठंडी हवा चल रही थी। सुरेश ख़ुमारी में पड़े हुए स्वप्न देख रहे थे कि मंगला सामने से चली जा रही है। चौंक पड़े। देखा, द्वार पर सचमुच मंगला खड़ी है। घर की नौकरानियाँ आँचल से आँखें पोछ रही हैं। कई नौकर आस-पास खड़े हैं। सभी की आँखें सजल और मुख उदास हैं। मानो बहू विदा हो रही है।

सुरेश समझ गए कि मंगला को कल की बात लग गई। पर उन्होंने उठकर कुछ पूछने की, मनाने की या समझाने की चेष्टा न की। यह मेरा अपमान कर रही है, सिर नीचा कर रही है। जहाँ चाहे, जाय। मुझसे कोई मतलब नहीं। यों बिना कुछ पूछे-पाछे चले जाने का अर्थ यह है कि मैं इसका कोई नहीं। फिर मैं इसे रोकनेवाला कौन!

वह यों ही जड़वत् पड़े रहे, और मंगला चली गई। उनकी तरफ़ मुँह उठाकर भी न ताका।

(४)

मंगला पाँव-पैदल चली जा रही थी। एक बड़े ताल्लुक़ेदार की औरत के लिये यह मामूली बात न थी। हर किसी की हिम्मत न पड़ती कि उससे कुछ कहे। पुरुष उसकी राह छोड़-कर किनारे खड़े हो जाते थे। नारियाँ द्वार पर खड़ी करुण

कौतूहल से देखती थीं, और आँखों से कहती थीं—हा निर्दयी पुरुष ! इतना भी न हो सका कि डोले पर तो बैठा देता ।

इस गॉव से निकलकर मंगला उस गॉव मे पहुँची, जहाँ शीतला रहती थी । शीतला सुनते ही द्वार पर आकर खड़ी हो गई, और मंगला से बोली—बहन, ज़रा आकर दम ले लो ।

मंगला ने अंदर जाकर देखा, तो मकान जगह-जगह से गिरा हुआ था । दालान मे एक वृद्धा खाट पर पड़ी थी । चारो ओर दरिद्रता के चिह्न दिखाई देते थ ।

शीतला ने पूछा—यह क्या हुआ ?

मंगला—जो भाग्य मे लिखा था ।

शीतला—कुँअरजी ने कुछ कहा-सुना क्या ?

मंगला—मुँह से कुछ न कहने पर भी ता मन को बात छिपी नहीं रहती ।

शीतला—अरे, तो क्या अब यहाँ तक नौबत आ गई !

दु:ख की अतिम दशा संकोच-हीन होती है । मंगला ने कहा—चाहती, तो अब भी पड़ी रहती । उसी घर मे जीवन कट जाता । पर जहाँ प्रेम नही, पूछ नही, मान नही, वहाँ अब नहीं रह सकती ।

शीतला—तुम्हारा मायका कहाँ है ?

मंगला—मायके कौन मुँह लेकर जाऊँगी ?

शीतला—तब कहाँ जाओगी ?

मंगला—ईश्वर के दरबार मे । पूछूँगी, तुमने मुझे सुंदरता

क्यों नही दी ? बदसूरत क्यों बनाया ? बहन, स्त्री के लिये इससे अधिक दुर्भाग्य की बात नही कि वह रूप-हीन हो। शायद पुरबले जनम की पिशाचिनियाँ ही बदसूरत औरतें होती है। रूप से प्रेम मिलता है, और प्रेम से दुर्लभ कोई वस्तु नही।

यह कहकर मंगला उठ खड़ी हुई। शीतला ने उसे रोका नही। सोचा—इसे खिलाऊँगी क्या, आज तो चूल्हा जलने की कोई आशा नही।

उसके जाने के बाद वह बहुत देर तक बैठी सोचती रही—मैं कैसी अभागिन हूँ। जिस प्रेम को न पाकर यह बेचारी जीवन को त्याग रही है, उसी प्रेम को मैंने पाँव से ठुकरा दिया! इसे ज़ेवर की क्या कमी थी? क्या ये सारे जड़ाऊ ज़ेवर इसे सुखी रख सके? इसने उन्हे पाँव से ठुकरा दिया। उन्ही आभूषणों के लिये मैंने अपना सर्वस्व खो दिया। हा! न-जाने वह (विमलसिंह) कहाँ है, किस दशा मे है!

अपनी लालसा को, तृष्णा को, वह कितनी ही बार धिक्कार चुकी थी। शीतला की दशा देखकर आज उसे आभूषणों से घृणा हो गई।

विमल को घर छोड़े दो साल हो गए थे। शीतला को अब उनके बारे में भाँति-भाँति की शंकाएँ होने लगी। आठो पहर उसके चित्त में ग्लानि और क्षोभ की आग सुलगती।

दिहात के छोटे-मोटे ज़मीदारों का काम डाँट-डपट, छीन-

झपट ही से चला करता है। विमल की खेती बेगार में होती थी। उसके जाने के बाद सारे खेत परती रह गए। कोई जोतनेवाला न मिला। इस खयाल से साझे पर भी किसी ने न जोता कि बीच में कहीं विमलसिंह आ गए, तो साझेदार को अँगूठा दिखा देंगे। असामियों ने लगान न दिया। शीतला ने महाजन से रुपए उधार लेकर काम चलाया। दूसरे वर्ष भी यही कैफियत रही। अब की महाजन ने भी रुपए न दिए। शीतला के गहनों के सिर गई। दूसरा साल समाप्त होते-होते घर की सब लेई-पूँजी निकल गई। फाके होने लगे। बूढ़ी सास, छोटा देवर, ननँद और आप चार प्राणियो का खर्च था। नात-हित भी आते ही रहते थे। उस पर यह और मुसीबत हुई कि मायके में एक फौजदारी हो गई। पिता और बड़े भाई उसमें फँस गए। दो छोटे भाई, एक बहन और माता, चार प्राणी और सिर पर आ डटे। गाड़ी पहले ही मुश्किल से चलती थी, अब जमीन मे धँस गई।

प्रातःकाल से कलह का आरंभ हो जाता। समधिन समधिन से, साले बहनोई से गुथ जाते। कभी तो अन्न के अभाव से भोजन ही न बनता; कभी, भोजन बनने पर भी, गाली-गलौज के कारण खाने को नौबत न आती। लड़के दूसरों के खेतों में जाकर गन्ने और मटर खाते; बूढ़ियाँ दूसरों के घर जाकर अपना दुखड़ा रोती और ठकुर-सोहाती कहतीं। पुरुष की अनु-पस्थिति में स्त्री के मायकेवालों का प्राधान्य हो जाता है। इस

संग्राम में प्रायः विजय-पताका मायकेवालों के ही हाथ रहती है। किसी भाँति घर में नाज आ जाता, तो उसे पीसे कौन! शीतला की मा कहती, चार दिन के लिये आई हूँ, तो क्या चक्की चलाऊँ? सास कहती, खाने की बेर तो बिल्ली की तरह लपकेंगी, पीसते क्यों जान निकलती है? विवश होकर शीतला को अकेले पीसना पड़ता। भोजन के समय वह महाभारत मचता कि पड़ोसवाले तंग आ जाते! शीतला कभी मा के पैरों पड़ती, कभी सास के चरण पकड़ती; लेकिन दोनो ही उसे झिड़क देतीं। मा कहती, तूने यहाँ बुलाकर हमारा पानी उतार लिया। सास कहती, मेरी छाती पर सौत लाकर बैठा दी; अब बातें बनाती है? इस घोर विवाद मे शीतला अपना विरह-शोक भूल गई। सारी अमंगल-शंकाएँ इस विरोधाग्नि मे शांत हो गईं। बस, अब यही चिता थी कि इस दशा से छुटकारा कैसे हो? मा और सास, दोनो हो का यमराज के सिवा और कही ठिकाना न था; पर यमराज उनका स्वागत करने के लिये बहुत उत्सुक नहीं जान पड़ते थे। सैकडों उपाय सोचती, पर उस पथिक की भाँति, जो दिन-भर चलकर भी अपने द्वार ही पर खड़ा हो, उसकी सोचने की शक्ति निश्चल हो गई थी। चारो तरफ निगाहे दौड़ाती कि कही कोइ शरण का स्थान है? पर कही निगाह न जमती।

एक दिन वह इसी नैराश्य की अवस्था मे द्वार पर खड़ी थी। मुसीबत मे, चित्त की उद्विग्नता मे, इंतज़ार मे, द्वार से प्रेम-सा हो जाता है। सहसा उसने बाबू सुरेशसिह को सामने से घोड़े

पर जाते देखा। उनकी आँखे उसकी ओर फिरी। आँखें मिल गईं। वह झिझककर पीछे हट गई। किवाड़ बंद कर लिए। कुँअर साहब आगे बढ़ गए। शीतला को खेद हुआ कि उन्होंने मुझे देख लिया। मेरे सिर पर सारी फटी हुई थी, चारो तरफ उसमें पेबंद लगे हुए थे! वह अपने मन में न-जाने क्या कहते होंगे?

कुँअर साहब को गाँववालों से विमलसिंह के परिवार के कष्टों की खबर मिली थी। वह गुप्त रूप से उसकी कुछ सहायता करना चाहते थे। पर शीतला को देखते ही संकोच ने उन्हें ऐसा दबाया कि द्वार पर एक क्षण भी न रुक सके। मंगला के गृह-त्याग के तीन महीने पीछे आज वह पहली बार घर से निकले थे। मारे शर्म के बाहर बैठना छोड़ दिया था।

इसमे संदेह नहीं कि कुँअर साहब मन मे शीतला के रूप-रस का आस्वादन करते थे। मंगला के जाने के बाद उनके हृदय में एक विचित्र दुष्कामना जग उठी। क्या किसी उपाय से यह सुंदरी मेरी नही हो सकती? विमल का मुद्दत से पता नही। बहुत संभव है, वह अब ससार में न हो। किंतु वह इस दुष्कल्पना का विचार से दबाते रहते थे। शीतला की विपत्ति की कथा सुनकर भी वह उसकी सहायता करते डरते थे। कौन जाने, वासना यही वेष रखकर मेरे विचार और विवेक पर कुठाराघात न करना चाहती हो। अंत को लालसा की कपट-लीला उन्हें भुलावा दे ही गई। वह शीतला के घर उसका हाल-चाल

पूछने गए। मन मे तर्क किया—यह कितना घोर अन्याय है कि एक अबला ऐसे संकट मे हो, और मैं उसकी बात भी न पूछूँ ? पर वहाँ से लौटे, तो बुद्धि और विवेक की रस्सियाँ टूट गई थीं, नौका मोह और वासना के अपार सागर में डुबकियाँ खा रही थी। आह ! यह मनोहर छवि ! यह अनुपम सौंदर्य !

एक क्षण में उन्मत्तों की भाँति बकने लगे—यह प्राण और यह शरीर तेरी भेट करता हूँ। संसार हँसेगा, हँसे। महापाप है, हो। कोई चिंता नहीं। इस स्वर्गीय आनंद से मैं अपने को वंचित नही रख सकता ? वह मुझसे भाग नहीं सकती। इस हृदय को छाती से निकालकर उसके पैरों पर रख दूँगा। विमल ? मर गया। नही मरा, तो अब मरेगा। पाप क्या है ? कोई बात नही। कमल कितना कोमल, कितना प्रफुल्ल, कितना ललित है ! क्या उसके अधरो—

अकस्मात् वह ठिठक गए, जैसे कोई भूली हुई बात याद आ जाय। मनुष्य मे बुद्धि के अंतर्गत एक अज्ञात बुद्धि होती है। जैसे रण-क्षेत्र मे हिम्मत हारकर भागनेवाले सैनिको को किसी गुप्त स्थान से आनेवाली कुमक सँभाल लेती है, वैसे ही इस अज्ञात बुद्धि ने सुरेश को सचेत कर दिया। वह सँभल गए। ग्लानि से उनकी आँखें भर आईं। वह कई मिनट तक किसी दंडित क़ैदी की भाँति क्षुब्ध खड़े सोचते रहे। फिर विजय-ध्वनि से कह उठे—कितना सरल है। इस विकार के हाथी को

सिंह से नहीं, चिउँटी से मारूँगा। शीतला को एक बार, 'बहन' कह देने से ही यह सब विकार शांत हो जायगा। शीतला! बहन! मैं तेरा भाई हूँ।

उसी क्षण उन्होंने शीतला को पत्र लिखा—बहन, तुमने इतने कष्ट झेले; पर मुझे खबर तक न दी। मैं कोई ग़ैर न था। मुझे इसका दुःख है। खैर, अब ईश्वर ने चाहा, तो तुम्हें कष्ट न होगा।

इस पत्र के साथ उन्होंने नाज और रुपए भेजे।

शीतला ने उत्तर दिया—भैया, क्षमा करो। जब तक जीऊँगी, तुम्हारा यश गाऊँगी। तुमने मेरी डूबती नाव पार लगा दी।

(५)

कई महीने बीत गए। संध्या का समय था। शीतला अपनी मैना को चारा चुगा रही थी। उसे सुरेश नैपाल से उसी के वास्ते लाए थे। इतने में सुरेश आकर आँगन में बैठ गए।

शीतला ने पूछा—"कहाँ से आते हो, भैया?"

सुरेश—गया था जरा थाने। कुछ पता नहीं चला। रंगून में पहले कुछ पता मिला था। बाद को मालूम हुआ कि वह कोई और आदमी है। क्या करूँ? इनाम और बढ़ा दूँ?

शीतला—तुम्हारे पास रुपए बढ़े हैं, फूँको। उनकी इच्छा होगी, तो आप ही आवेंगे।

सुरेश—एक बात पूछूँ, बताओगी? किस बात पर तुमसे रूठे थे?

शीतला—कुछ नहीं, मैंने यही कहा कि मुझे गहने बनवा

दो। कहने लगे, मेरे पास है क्या। मैंने कहा (जलाकर), तो ब्याह क्यों किया? बस बातों-ही-बातों में तकरार मान गए।

इतने में शीतला को सास आ गई। सुरेश ने शीतला की मा और भाइयों को उनके घर पहुँचा दिया था, इसलिये यहाँ अब शांति थी। सास ने बहू की बात सुन ली थी। कर्कश स्वर से बोली—बेटा,' तुमसे क्या परदा है। यह महारानी देखने ही को गुलाब का फूल हैं, अंदर सब काँटे हैं। यह अपने बनाव-सिंगार के आगे विमल की बात ही न पूछती थी। बेचारा इस पर जान देता था; पर इसका मुँह ही न सीधा होता था। प्रेम तो इसे छू नहीं गया। अंत को उसे देश से निकालकर इसने दम लिया!

शीतला ने रुष्ट होकर कहा—क्या वही अनोखे धन कमाने घर से निकले हैं? देश-विदेश जाना मरदों का काम ही है।

सुरेश—योरप में तो धन-भोग के सिवा स्त्री-पुरुष में कोई संबंध ही नहीं होता। बहन ने योरप में जन्म लिया होता, तो हीरे-जवाहिर से जगमगाती होती। शीतला, अब तुम ईश्वर से यही कहना कि सुंदरता देते हो, तो योरप में जन्म दो।

शीतला ने व्यथित होकर कहा—"जिनके भाग्य में लिखा है, वे यहीं सोने से लदी हुई हैं। मेरी भाँति सभी के करम थोड़े ही फूट गए हैं।"

सुरेशसिंह को ऐसा जान पड़ा कि शीतला की मुख-कांति मलिन हो गई है। पति-वियोग में भी गहनों के लिये इतनी

लालायित है ! बोले—"अच्छा, मैं तुम्हें गहने बनवा दूँगा।"

यह वाक्य कुछ अपमान-सूचक स्वर मे कहा गया था; पर शीतला की आँखें आनंद से सजल हो आईं, कंठ गद्गद हो गया। उसके हृदय-नेत्रो के सामने मंगला के रत्न-जटित आभूषणों का चित्र खिच गया। उसने कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से सुरेश को देखा। मुँह से कुछ न बोली; पर उसका प्रत्येक अंग कह रहा था—"मैं तुम्हारी हूँ।"

(६)

कोयल आम की डालियों पर बैठकर, मछली शीतल निर्मल जल मे क्रीडा करके और मृग-शावक विस्तृत हरियालियों मे छलाँगें भरकर इतने प्रसन्न नही होते, जितना मंगला के आभूषणों को पहनकर शीतला प्रसन्न हो रही है। उसके पैर ज़मीन पर नहीं पड़ते। वह आकाश मे विचरती हुई जान पड़ती है। वह दिन-भर आइने के सामने खड़ी रहती है; कभी केशों को सँवारती है, कभी सुरमा लगाती है। कुहरा फट गया और निर्मल स्वच्छ चाँदनी निकल आई है। वह घर का एक तिनका भी नही उठाती। उसके स्वभाव मे एक विचित्र गर्व का संचार हो गया है।

लेकिन शृंगार क्या है ? सोई हुई काम-वासना को जगाने का घोर नाद—उद्दीपन का मंत्र। शीतला जब नख-शिख से सजकर बैठती है, तो उसे प्रबल इच्छा होती है कि मुझे कोई देखे।

वह द्वार पर आकर खड़ी हो जाती है। गाँव की स्त्रियों की प्रशंसा से उसे संतोष नही होता। गाँव के पुरुषों को वह शृंगार-रस-विहीन समझती है। इसलिये सुरेशसिह को बुलाती है। पहले वह दिन में एक बार आ जाते थे; अब शीतला के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी नहीं आते।

पहर रात गई थी। घरों के दीपक बुझ चुके थे। शीतला के घर में दीपक जल रहा था। उसने कुँअर साहब के बग़ीचे से बेले के फूल मँगवाए थे, और बैठी हार गूँथ रही थी—अपने लिये नहीं, सुरेश के लिये। प्रेम के सिवा एहसान का बदला देने के लिये उसके पास और था ही क्या ?

एकाएक कुत्तों के भूँकने की आवाज़ सुनाई दी, और दम-भर मे विमलसिह ने मकान के अंदर क़दम रक्खा। उनके एक हाथ में संदूक थी, दूसरे हाथ मे एक गठरी। शरीर दुर्बल, कपड़े मैले, दाढ़ी के बाल बढ़े हुए, मुख पीला; जैसे कोई क़ैदी जेल से निकलकर आया हो। दीपक का प्रकाश देखकर वह शीतला के कमरे की तरफ चले। मैना पिजरे मे तड़फड़ाने लगी। शीतला ने चौंककर सिर उठाया। घबराकर बोली—"कौन ?" फिर पहचान गई। तुरंत फूलों को एक कपड़े से छिपा दिया। उठ खड़ी हुई, और सिर झुकाकर पूछा—"इतनी जल्दी सुध ली !"

विमल ने कुछ जवाब न दिया। विस्मित हो-होकर कभी शीतला को देखता और कभी घर को। मानो किसी नए संसार में पहुँच गया है। यह वह अधखिला फूल न था, जिसकी पँख-

ड़ियाँ अनुकूल जल-वायु न पाकर सिमट गई थी। यह पूर्ण विकसित कुसुम था—ओस के जलकणों से जगमगाता और वायु के झोकों से लहराता हुआ। विमल उसकी सुदरता पर पहले भी मुग्ध था। पर यह ज्योति वह अग्नि-ज्वाला थी, जिससे हृदय मे ताप और आँखों मे जलन होती थी। ये आभूषण, ये वस्त्र, यह सजावट! उसके सिर मे चक्कर-सा आ गया। ज़मीन पर बैठ गया। इस सूर्यमुखी के सामने बैठते हुए उसे लज्जा आती थी। शीतला अभी तक स्तंभित खड़ी थी। वह पानी लाने नही दौड़ी, उसने पति के चरण नही धोए, उसके पंखा तक नही झला। वह हतबुद्धि-सी हो गई थी। उसने कल्पनाओं की कैसी सुरम्य वाटिका लगाई थी! उस पर तुषार पड़ गया! वास्तव मे इस मलिन-वदन, अर्द्ध-नग्न पुरुष से उसे घृणा हो रही थी। यह घर का ज़मीदार विमल न था। वह मज़दूर हो गया था। मोटा काम मुखाकृति पर असर डाले विना नहीं रहता। मजदूर सुदर वस्त्रों मे भी मजदूर ही रहता है।

सहसा विमल की मा चौंकी। शीतला के कमरे मे आई, तो विमल को देखते ही मातृ-स्नेह से विह्वल होकर उसे छाती से लगा लिया। विमल ने उसके चरणो पर सिर रक्खा। उसकी आँखो से आँसुओं की गरम-गरम बूँदे निकल रही थी। मा पुलकित हो रही थी। मुख से बात न निकलती थी।

एक क्षण मे विमल ने कहा—अम्मा!

कंठ-ध्वनि ने उसका आशय प्रकट कर दिया।

मा ने प्रश्न समझकर कहा—नहीं बेटा, यह बात नहीं है।

विमल—यह देखता क्या हूँ ?

मा—स्वभाव ही ऐसा है, तो कोई क्या करे ?

विमल—सुरेश ने मेरा हुलिया क्यों लिखाया था ?

मा—तुम्हारी खोज लेने के लिये। उन्होंने दया न की होती, तो आज घर में किसी को जीता न पाते।

विमल—बहुत अच्छा होता।

शीतला ने ताने से कहा—अपनी ओर से तो तुमने सबको मार ही डाला था। फूलों की सेज बिछा गए थे न ?

विमल—अब तो फूलों की सेज ही बिछी हुई देखता हूँ।

शीतला—तुम किसी के भाग्य के विधाता हो ?

विमलसिंह उठकर क्रोध से काँपता हुआ बोला—अम्मा, मुझे यहाँ से ले चलो। मैं इस पिशाचिनी का मुँह नहीं देखना चाहता। मेरी आँखों में खून उतरता चला आता है। मैंने इस कुल-कलंकिनी के लिये तीन साल तक जो कठिन तपस्या की है, उससे ईश्वर मिल जाता; पर इसे न पा सका!

यह कहकर वह कमरे से निकल आया, और मा के कमरे में लेट रहा। मा ने तुरंत उसका मुँह और हाथ-पैर धुलाए। वह चूल्हा जलाकर पूरियाँ पकाने लगी। साथ-साथ घर की विपत्ति-कथा भी कहती जाती थी। विमल के हृदय में सुरेश के प्रति जो विरोधाग्नि प्रज्वलित हो रही थी, वह शांत हो गई; लेकिन हृदय-दाह ने रक्त-दाह का रूप धारण किया। ज़ोर का

बुख़ार चढ़ आया। लंबी यात्रा की थकन और कष्ट तो था ही, बरसों के कठिन श्रम और तप के बाद यह मानसिक संताप और भी दुस्सह हो गया।

सारी रात वह अचेत पड़ा रहा। मा बैठी पंखा झलती और रोती रही। दूसरे दिन भी वह बेहोश पड़ा रहा। शीतला उसके पास एक क्षण के लिये भी न आई। "इन्होंने मुझे कौन सोने के कौर खिला दिए हैं, जो इनको धौंस सहूँ। यहाँ तो 'जैसे कंता घर रहे, वैसे रहे विदेस।' किसी को फूटी कौड़ी नहीं जानती। बहुत ताव दिखाकर तो गए थे। क्या लाद लाए?"

संध्या के समय सुरेश को ख़बर मिली। तुरंत दौड़े हुए आए। आज दो महीने के बाद उन्होंने इस घर में कदम रक्खा। विमल ने आँखें खोलीं, पहचान गया। आँखों से आँसू बहने लगे। सुरेश के मुखारविंद पर दया की ज्योति झलक रही थी। विमल ने उनके बारे में जो अनुचित संदेह किया था, उसके लिये वह अपने को धिक्कार रहा था।

शीतला ने ज्यों ही सुना कि सुरेशसिंह आए हैं, तुरंत शीशे के सामने गई, केश छिटका लिए और विषाद की मूर्ति बनी हुई विमल के कमरे में आई। कहाँ तो विमल की आँखें बंद थीं, मूर्च्छित-सा पड़ा था, कहाँ शीतला के आते ही आँखें खुल गईं। अग्निमय नेत्रों से उसकी ओर देखकर बोला—अभी आई है? आज के तीसरे दिन आना। कुँअर साहब से उस दिन फिर भेंट हो जायगी।

शीतला उलटे-पॉव चली गई। सुरेश पर घड़ों पानी पड़ गया। मन मे सोचा—कितना रूप-लावण्य है, पर कितना विषाक्त ! हृदय की जगह केवल शृंगार-लालसा !

रोग बढ़ता ही गया। सुरेश ने डॉक्टर बुलवाए। पर मृत्युदेव ने किसी की न मानी। उनका हृदय पाषाण है। किसी भाँति नहीं पसीजता। कोई अपना हृदय निकालकर रख दे, आँसुओं की नदी बहा दे; पर उन्हे दया नहीं आती। बसे हुए घर को उजाड़ना, लहराती हुई खेती को सुखाना उनका काम है। और, उनकी निर्दयता कितनी विनोदमय है ! वह नित्य नए रूप बदलते रहते हैं। कभी दामिनी बन जाते हैं, तो कभी पुष्प-माला। कभी सिंह बन जाते हैं, तो कभी सियार। कभी अग्नि के रूप मे दिखाई देते हैं, तो कभी जल के रूप मे।

तीसरे दिन, पिछली रात को, विमल की मानसिक पीड़ा और हृदय-ताप का अंत हो गया। चोर दिन को कभी चोरी नहीं करता। यम के दूत प्राय॰ रात को ही सबकी नज़रे बचाकर आते है, और प्राण-रत्न को चुरा ले जाते है। आकाश के फूल मुरझाए हुए थे। वृक्ष-समूह स्थिर थे; पर शोक में मग्न, सिर झुकाए हुए। रात शोक का बाह्य रूप है। रात मृत्यु का क्रीड़ा-क्षेत्र है। उसी समय विमल के घर से आर्त-नाद सुनाई दिया—वह नाद, जिसे सुनने के लिये मृत्युदेव विकल रहते हैं।

शीतला चौंक पड़ी, और घबराई हुई मरण-शय्या की ओर चली। उसने मृत-देह पर निगाह डाली, और भयभीत होकर

एक पग पीछे हट गई। उसे जान पड़ा, विमलसिह उसकी ओर अत्यंत तीव्र दृष्टि से देख रहे हैं। बुझे हुए दीपक मे उसे भयंकर ज्योति दिखाई पड़ी। वह मारे भय के वहाँ ठहर न सकी। द्वार से निकल ही रही थी कि सुरेशसिंह से भेंट हो गई। कातर स्वर में बोली—"मुझे यहाँ डर लगता है।" उसने चाहा कि रोती हुई इनके पैरो पर गिर पड़ूँ; पर वह अलग हट गए।

(७)

जब किसी पथिक को चलते-चलते ज्ञात होता है कि मै रास्ता भूल गया हूँ, तो वह सीधे रास्ते पर आने के लिये बड़े वेग से चलता है। झुँझलाता है कि मैं इतना असावधान क्यों हो गया? सुरेश भी अब शांति-मार्ग पर आने के लिये विकल हो गए। मंगला की स्नेहमयी सेवाएँ याद आने लगी। हृदय मे वास्तविक सौंदर्योपासना का भाव उदय हुआ। उसमे कितना प्रेम, कितना त्याग था, कितनी क्षमा थी! उसकी अतुल पति-भक्ति को याद करके कभी-कभी वह तड़प जाते। आह! मैंने घोर अत्याचार किया। ऐसे उज्ज्वल रत्न का आदर न किया। मै यही जड़वत् पड़ा रहा, और मेरे सामने ही लक्ष्मी घर से निकल गई! मंगला ने चलते-चलते शीतला से जो बातें कही थी, वे उन्हे मालूम थी। पर उन बातों पर विश्वास न होता था। मंगला शांत प्रकृति की थी; वह इतनी उद्दंडता नही कर सकती। उसमे क्षमा थी, वह इतना विद्वेष नही कर सकती। उनका मन कहता था कि जीती है, और कुशल से है। उसके

मायकेवालों को कई पत्र लिखे। पर वहाँ व्यंग्य और कटु वाक्यों के सिवा और क्या रक्खा था? अंत को उन्होंने लिखा—"अब उस रत्न को खोज मे मै स्वयं जाता हूँ। या तो लेकर ही आऊँगा, या कही मुँह मे कालिख लगाकर डूब मरूँगा।"

इस पत्र का उत्तर आया—"अच्छी बात है, जाइए, पर यहाँ से होते हुए जाइएगा। यहाँ से भी कोई आपके साथ चला जायगा।"

सुरेशसिंह को इन शब्दों मे आशा की झलक दिखाई दी। उसी दिन प्रस्थान कर दिया। किसी को साथ नही लिया।

सुसराल मे किसी ने उनका प्रेममय स्वागत नही किया। सभी के मुँह फूले हुए थे। ससुरजी ने तो उन्हे पति-धर्म पर एक लंबा उपदेश दिया।

रात को जब वह भोजन करके लेटे, तो छोटी साली आकर बैठ गई, और मुसकिराकर बोली—"जीजाजी, कोई सुंदरी अपने रूप हीन पुरुष को छोड़ दे, उसका अपमान करे, तो आप उसे क्या कहेंगे?"

सुरेश—(गंभीर स्वर से) कुटिला!

साली—और ऐसे पुरुष को, जो अपनी रूप-हीन स्त्री को त्याग दे?

सुरेश—पशु!

साली—और जो पुरुष विद्वान् हो?

सुरेश—पिशाच!

साली—(हँसकर) तो मैं भागती हूँ। मुझे आपसे डर लगता है।

सुरेश—पिशाचों का प्रायश्चित्त भी तो स्वीकार हो जाता है।

साली—शर्त यह है कि प्रायश्चित्त सच्चा हो।

सुरेश—यह तो वह अंतर्यामी ही जान सकते हैं।

साली—सच्चा होगा, तो उसका फल भी अवश्य मिलेगा। मगर दीदी को लेकर इधर ही से लौटिएगा।

सुरेश की आशा-नौका फिर डगमगाई। गिड़गिड़ाकर बोले—"प्रभो, ईश्वर के लिये मुझ पर दया करो, मैं बहुत दुखी हूँ। साल-भर से ऐसा कोई दिन नही गया कि मै रोकर न सोया हूँ।"

प्रभा ने उठकर कहा—"अपने किए का क्या इलाज? जाती हूँ, आराम कीजिए।"

एक क्षण में शीतला की माता आकर बैठ गई, और बोली—"बेटा, तुमने तो बहुत पढ़ा-लिखा है, देस-बिदेस घूम आए हो, सुंदर बनने की कोई दवा कही नही देखी?"

सुरेश ने विनय-पूर्वक कहा—"माताजी, अब ईश्वर के लिये और लज्जित न कीजिए।"

माता—तुमने तो मेरी बेटी के प्राण ले लिए! मैं क्या तुम्हे लज्जित करने से भी गई! जी मे तो था कि ऐसी-ऐसी सुनाऊँगी कि तुम भी याद करोगे; पर मेरे मेहमान हो, क्या जलाऊँ? आराम करो।

सुरेश आशा और भय की दशा मे पड़े करवटें बदल रहे थे कि एकाएक द्वार पर किसी ने धीरे से कहा—"जाती क्यो नहीं, जागते तो है !" किसी ने जवाब दिया—"लाज आती है ।"

सुरेश ने आवाज़ पहचानी । प्यासे को पानी मिल गया । एक क्षण मे मंगला उनके सम्मुख आई, और सिर झुकाकर खड़ी हो गई । सुरेश को उसके मुख पर एक अनूठी छवि दिखाई दी, जैसे कोई रोगी स्वास्थ्य-लाभ कर चुका हो ।

रूप वही था, पर आँखे और थीं ।

राज्य-भक्त

संध्या का समय था। लखनऊ के बादशाह नासिरुद्दीन अपने मुसाहबो और दरबारियों के साथ बाग की सैर कर रहे थे। उनके सिर पर रत्न-जटित मुकुट की जगह अँगरेज़ी टोपी थी। वस्त्र भी अँगरेजी ही थे। मुसाहबों मे पॉच अँगरेज थे। उनमें से एक के कंधे पर सिर रखकर बादशाह चल रहे थे। चार-पाँच हिंदुस्थानी भी थे। उनमे एक राजा बख्तावरसिंह थे। वह बादशाही सेना के अध्यक्ष थे। उन्हे सब लोग 'जेनरल' कहा करते थे। वह अधेड़ आदमी थे। शरीर ख़ूब गठा हुआ था। लखनवी पहनाव उन पर बहुत सजता था। मुख से विचारशीलता झलक रही थी। दूसरे महाशय का नाम रोशनुद्दौला था। यह राज्य के प्रधान मंत्री थे। बड़ी बड़ी मूँछें और नाटा डील था, जिसे ऊँचा करने के लिये वह तनकर चलते थे। नेत्रों से गर्व टपक रहा था। शेष लोगों मे एक कोतवाल था, और दो बादशाह के रक्षक। यद्यपि अभी १९वीं शताब्दी का प्रारंभ ही था, पर बादशाह ने अँगरेजी रहन-सहन अख्तियार कर लिया था। भोजन भी प्रायः अँगरेजी ही करते थे। अँगरेजों पर उनका असीम विश्वास था। वह सदैव उनका पक्ष लिया करते। मजाल न थी कि

कोई बड़े-से-बडा राजा या राज-कर्मचारी किसी अँगरेज से बराबरी करने का साहस कर सके।

अगर किसी में यह हिम्मत थी, तो वह राजा बख्तावरसिंह थे। उनसे कंपनी का बढ़ता हुआ अधिकार न देखा जाता था; कंपनी की वह सेना जिसे उसने अवध-राज्य की रक्षा के लिये लखनऊ में नियुक्त किया था, दिन-दिन बढ़ती जाती थी। उसी परिमाण मे सेना का व्यय भी बढ रहा था। राज-दरबार उसे चुका न सकने के कारण कंपनी का ऋणी होता जाता था। बादशाही सेना की दशा हीन से हीनतर होती जाती थी। उसमें न संगठन था, न बल। बरसों तक सिपाहियों का वेतन न मिलता। शस्त्र सभी पुराने ढंग के, वरदी फटी हुई, क़वायद का नाम नहीं। कोई उनका पूछनेवाला न था। अगर राजा बख्तावरसिंह वेतन-वृद्धि या नए शस्त्रों के संबंध में कोई प्रयत्न करते, तो कंपनी का रेज़िडेंट उसका घोर विरोध और राज्य पर विद्रोहात्मक शक्ति-संचार का दोषारोप करता। उधर से डाँट पड़ती, तो बादशाह अपना ग़ुस्सा राजा साहब पर उतारते। बादशाह के सभी अँगरेज़ मुसाहब राजा साहब से शंकित रहते, और उनकी जड़ खोदने का प्रयास करते थे। पर वह राज्य का सेवक एक ओर से अवहेलना और दूसरी ओर से घोर विरोध सहते हुए अपने कर्तव्य का पालन करता जाता था। मज़ा यह कि सेना भी उनसे संतुष्ट न थी। सेना में अधिकांश लखनऊ के शोहदे और गुंडे भरे हुए थे। राजा

साहब जब उन्हे हटाकर अच्छे-अच्छे जवान भरती करने की चेष्टा करते, तो सारी सेना मे हाहाकार मच जाता। लोगों को शंका होती कि यह राजपूतों की सेना बनाकर कहीं राज्य ही पर तो हाथ नही बढाना चाहते ? इसलिये मुसलमान भी उनसे बदगुमान रहते थे। राजा साहब के मन मे बार-बार प्रेरणा होती कि इस पद को त्यागकर चले जायँ, पर यह भय उन्हें रोकता था कि मेरे हटते ही ऑगरजों को बन आवेगी, और बादशाह उनके हाथों में कठपुतली बन जायँगे ; रही-सही सेना के साथ अवध-राज्य का अस्तित्व भी मिट जायगा। अतएव, इतनी कठिनाइयों के होते हुए भी, चारो ओर वैर-विरोध से घिरे होने पर भी, वह अपने पद से हटने का निश्चय न कर सकते थे। सबसे कठिन समस्या यह थी कि रोशनुद्दौला भी राजा साहब से खार खाता था। उसे सदैव शंका रहती थी कि यह मराठों से मैत्री करके अवध-राज्य को मिटाना चाहते हैं। इसलिये वह भी राजा साहब के प्रत्येक कार्य मे बाधा डालता रहता। उसे अब भी आशा थी कि अवध का मुसलमानी राज्य अगर जीवित रह सकता है, तो ऑगरेजों के संरक्षण मे, अन्यथा वह अवश्य हिंदुओं की बढ़ती हुई शक्ति का ग्रास बन जायगा।

वास्तव मे बख़्तावरसिंह की दशा अत्यंत करुण थी। वह अपनी चतुराई से जिह्वा की भाँति दाँतों के बीच मे पड़े हुए अपना काम किए जाते थे। यों तो वह स्वभाव से अक्खड़ थे, पर अपना काम निकालने के लिये मधुरता और मृदुलता, शील

और विनय का आवाहन भी करते रहते थे। इससे उनके व्यवहार मे कृत्रिमता आ जाती, और वह शत्रुओं को उनकी ओर से और भी सशंक बना देती थी।

बादशाह ने एक अँगरेज़ मुसाहब से पूछा—"तुमको मालूम है, मै तुम्हारी कितनी खातिर करता हूँ ? मेरी सल्तनत में किसी की मजाल नही कि वह किसी अँगरेज़ को कड़ी निगाहो से देख सके।"

अँगरेज़ मुसाहब ने सिर झुकाकर जवाब दिया—"हम हुज़ूर की इस मिहरबानी को कभी नही भूल सकते।"

बादशाह—इमामहुसेन की कसम, अगर यहाँ कोई आदमी तुम्हे तकलीफ दे, तो मै उसे फौरन् ज़िंदा दीवार मे चुनवा दूँ।

बादशाह की आदत थी कि वह बहुधा अपनी अँगरेज़ी टोपी हाथ मे लेकर उसे उँगली पर नचाने लगते थे। रोज़ नचाते-नचाते टोपी मे उँगली का घर हो गया था। इस समय जो उन्होंने टोपी उठाकर उँगली पर रक्खी, तो टोपी मे छेद हो गया। बादशाह का ध्यान अँगरेजो की तरफ था। बख्तावरसिंह बादशाह के मुँह से ऐसी बाते सुनकर कबाब हुए जाते थे। उक्त कथन मे कितनी खुशामद, कितनी नीचता और अवध की प्रजा तथा राजा का कितना अपमान था; और लोग तो टोपी का छिद्र देखकर हँसने लगे, पर राजा बख्तावरसिंह के मुँह से अनायास निकल गया—"हुज़ूर, ताज मे सूराख हो गया!"

राजा साहब के शत्रुओं ने तुरंत कानों पर उँगलियाँ रख

लीं। बादशाह को भी ऐसा मालूम हुआ कि राजा ने मुझ पर व्यंग्य किया। उनके तेवर बदल गए। अँगरेजों और अन्य सभासदों ने इस प्रकार काना-फूसी शुरू की, जैसे कोई महान् अनर्थ हो गया हो। राजा साहब के मुँह से अनर्गल शब्द अवश्य निकले थे। इसमे कोई संदेह नहीं था। संभव है, उन्होंने जान-बूझकर व्यंग्य न किया हो, उनके दुःखी हृदय ने साधारण चेतावनी को यह तीव्र रूप दे दिया हो; पर बात बिगड़ ज़रूर गई थी। अब उनके शत्रु उन्हे कुचलने के ऐसे सुदर अवसर को हाथ से क्यो जाने देते ?

राजा साहब ने सभा का यह रंग देखा, तो ख़ून सर्द हो गया। समझ गए, आज शत्रुओं के पंजे मे फँस गया, और ऐसा बुरा फँसा कि भगवान् हो निकाले, तो निकल सकता हूँ।

बादशाह ने कोतवाल से लाल आँखे करके कहा—"इस नमकहराम को कैद कर लो, और इसी वक़ इसका सिर उड़ा दो। इसे मालूम हो जाय कि बादशाहों से बेअदबी करने का क्या नतीजा होता है।"

कोतवाल को सहसा 'जेनरल' पर हाथ बढ़ाने की हिम्मत न पड़ी। रोशनुद्दौला ने उससे इशारे से कहा—"खड़े सोचते क्या हो, पकड़ लो, नही तो तुम भी इसी आग मे जल जाओगे।"

झट कोतवाल ने आगे बढ़कर बख्तावरसिंह को गिरफ्तार कर लिया। एक क्षण मे मुश्कें कस दी गईं। लोग उन्हे चारो ओर से घेरकर क़त्ल करने ले चले।

बादशाह ने मुसाहबों से कहा—"मै भी वही चलता हूँ। ज़रा देखूँगा कि नमकहरामो की लाश क्योंकर तड़पती है।"

कितनी घोर पशुता थी ! यही प्राणी ज़रा देर पहले बादशाह का विश्वास-पात्र था !

एकाएक बादशाह ने कहा—"पहले इस नमकहराम की ख़िलअ़त उतार लो। मैं नही चाहता कि मेरी ख़िलअ़त की बेइज़्ज़ती हो।"

किसकी मजाल थी, जो ज़रा भी ज़बान हिला सकता। सिपाहियों ने राजा साहब के वस्त्र उतारने शुरू किए। दुर्भाग्य-वश उनकी एक जेब से पिस्तौल निकल आई। उसकी दोनो नालियाँ भरी हुई थीं। पिस्तौल देखते ही बादशाह की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। बोले—"क़सम है हज़रत इमामहुसेन की, अब इसकी जाँबख्शी नही करूँगा। मेरे साथ भरी हुई पिस्तौल की क्या जरूरत ! ज़रूर इसकी नीयत में फ़ितूर रहता था। अब मै इसे कुत्तों से नुचवाऊँगा। (मुसाहबों की तरफ़ देखकर) देखी तुम लोगों ने इसकी नीयत ! मैं अपनी आस्तीन मे साँप पाले हुए था। आप लोगों के खयाल मे इसके पास भरी हुई पिस्तौल का निकलना क्या माने रखता है ?"

अँगरेज़ों को केवल राजा साहब को नीचा दिखाना मंज़ूर था। वे उन्हें अपना मित्र बनाकर जितना काम निकाल सकते थे, उतना उनके मारे जाने से नहीं। इसी से एक अँगरेज़ मुसाहब ने कहा—"मुझे तो इसमे कोई ग़ैरमुनासिब बात नही मालूम

होती। जेनरल आपका बाडी-गार्ड (रक्षक) है। उसे हमेशा हथियार-बंद रहना चाहिए। खासकर जब आपकी खिदमत मे हो। न मालूम, किस वक्त जरूरत आ पडे।"

दूसरे अँगरेज़ मुसाहबों ने भी इस विचार की पुष्टि की। बादशाह के क्रोध की ज्वाला कुछ शांत हुई। अगर ये ही बातें किसी हिंदुस्थानी मुसाहब की जबान से निकली होतीं, तो उसकी जान की ख़ैरियत न थी। कदाचित् अँगरेजों को अपनी न्याय-परता का नमूना दिखाने ही के लिये उन्होंने यह प्रश्न किया था। बोले—"कसम हज़रत इमाम की, तुम सब-के-सब शेर के मुँह से उसका शिकार छीनना चाहते हो! पर मै एक न मानूँगा, बुलाओ कप्तान साहब को। मैं उनसे यही सवाल करता हूँ। अगर उन्होंने भी तुम लोगो के खयाल की ताईद की, तो इसकी जान न लूँगा। और, अगर उनकी राय इसके ख़िलाफ़ हुई, तो इस मक्कार को इसी वक़्त जहन्नम भेज दूँगा। मगर ख़बरदार, कोई उनकी तरफ किसी तरह का इशारा न करे; वर्ना मैं ज़रा भी रू-रियायत न करूँगा। सब-के सब सिर झुकाए बैठे रहे।"

कप्तान साहब थे तो राजा साहब के आउरदे, पर इन दिनों बादशाह की उन पर विशेष कृपा थी। वह उन सच्चे राज्य-भक्तों में से थे, जो अपने को राजा का नहीं, राज्य का सेवक समझते हैं। वह दरबार से अलग रहते थे। बादशाह उनके कामों से बहुत संतुष्ट थे। एक आदमी तुरंत कप्तान साहब को बुला लाया। राजा साहब की जान उनकी मुट्ठी मे थी। रोशनुद्दौला

को छोड़कर शायद एक व्यक्ति भी ऐसा न था, जिसका हृदय आशा और निराशा से न धड़क रहा हो। सब मन मे भगवान् से यही प्रार्थना कर रहे थे कि कप्तान साहब किसी तरह से इस समस्या को समझ जायँ। कप्तान साहब आए। उड़ती हुई दृष्टि से सभा की ओर देखा। सभी की आँखें नीचे झुकी हुई थीं। वह कुछ अनिश्चित भाव से सिर झुकाकर खड़े हो गए।

बादशाह ने पूछा—"मेरे मुसाहबो को अपनी जेब मे भरी हुई पिस्तौल रखना मुनासिब है, या नही?"

दरबारियों की नीरवता, उनके आशंकित चेहरे और उनकी चिंता-युक्त अधीरता देखकर कप्तान साहब को वर्तमान समस्या की कुछ टोह मिल गई। वह निर्भीक भाव से बोले—"हुजूर, मेरे खयाल मे तो यह उनका फर्ज है। बादशाह के दोस्त-दुश्मन सभी होते हैं; अगर मुसाहब लोग उनकी रक्षा का भार न लेंगे, तो कौन लेगा? उन्हें सिर्फ पिस्तौल ही नही, और भी छिपे हुए हथियारो से लैस रहना चाहिए। न-जाने कब हथियारो की जरूरत आ पड़े, तब वे ऐन वक्त पर कहाँ दौड़ते फिरेंगे।"

राजा साहब के जीवन के दिन बाकी थे। बादशाह ने निराश होकर कहा—"रोशन, इसे कत्ल मत करना; काल-कोठरी मे कैद कर दो। मुझसे पूछे बग़ैर इसे दाना-पानी कुछ न दिया जाय। जाकर इसके घर का सारा माल-असबाब ज़ब्त कर लो, और सारे खानदान को जेल मे बंद करा दो। इसके मकान की दीवारें जमीदोज़ करा देना। घर मे एक फूटी हाँडी भी न रहने पावे।"

इससे तो कहीं अच्छा यही था कि राजा साहब ही की जान जाती। खानदान की बेइज्जती तो न होती, महिलाओं का अपमान तो न होता, दरिद्रता की चोटें तो न सहनी पड़ती! विकार को निकलने का मार्ग नहीं मिलता, तो वह सारे शरीर में फैल जाता है। राजा के प्राण तो बचे, पर सारे खानदान को विपत्ति में डालकर!

रोशनुद्दौला को मुँह-माँगी मुराद मिली। उसकी ईर्षा कभी इतनी संतुष्ट न हुई थी। वह मग्न था कि आज वह काँटा निकल गया, जो बरसों से हृदय में चुभा हुआ था। आज हिंदू-राज्य का अंत हुआ। अब मेरा सिक्का चलेगा। अब मैं समस्त राज्य का विधाता हूँगा। संध्या से पहले ही राजा साहब की सारी स्थावर और जंगम संपत्ति कुर्क हो गई। वृद्ध माता-पिता, सुकोमल रमणियाँ, छोटे-छोटे बालक, सब-के-सब जेल में कैद कर दिए गए। कितनी करुण दशा थी! वे महिलाएँ, जिन पर कभी देवताओं की भी निगाह न पड़ी थी, खुले मुँह, नंगे पैर, पाँव घसीटती, शहर की भरी हुई सड़कों और गलियों से होती हुई, सिर झुकाए, शोक-चित्रों की भाँति, जेल की तरफ चली जाती थीं। सशस्त्र सिपाहियों का एक बड़ा दल साथ था। जिस पुरुष के एक इशारे पर कई घंटे पहले सारे शहर में हलचल मच जाती, उसी के खानदान की यह दुर्दशा!

(२)

राजा बख्तावरसिंह को बंदी-गृह में रहते हुए एक मास बीत

गया। वहाँ उन्हे सभी प्रकार के कष्ट दिए जाते थे। यहाँ तक कि भोजन भी यथासमय न मिलता था। उनके परिवार को भी असह्य यातनाएँ दी जाती थीं। लेकिन राजा साहब को बंदी-गृह मे एक प्रकार की शांति का अनुभव होता था। वहाँ प्रति क्षण यह खटका तो न रहता था कि बादशाह मेरी किसी बात से नाराज न हो जायँ; मुसाहब लोग कहीं मेरी शिकायत तो नही कर रहे है। शारीरिक कष्टो का सहना उतना कठिन नही, जितना कि मानसिक कष्टो का। यहाँ सब तकलीफें थी, पर सिर पर तलवार तो नही लटक रही थी। उन्होंने मन मे निश्चय किया कि अब चाहे बादशाह मुझे मुक्त भी कर दें, मगर मै राज-काज से अलग ही रहूँगा। इस राज्य का सूर्य अस्त होनेवाला है; कोई मानवी शक्ति उसे विनाश-निशा मे लीन होने से नही रोक सकती। ये उसी पतन के लक्षण है; नहीं तो क्या मेरी राज्य-भक्ति का यही पुरस्कार मिलना चाहिए था! मैंने अब तक कितनी कठिनाइयों से राज्य की रक्षा की है, यह भगवान् ही जानते हैं। एक तो बादशाह की निरंकुशता, दूसरी ओर बल-वान् और युक्ति-संपन्न शत्रुओं की कूटनीति—इस शिला और भँवर के बीच में राज्य की नौका को चलाते रहना कितना कष्ट-साध्य था! शायद ही ऐसा कोई दिन गुजरा होगा, जिस दिन मेरा चित्त प्राण-शंका से आंदोलित न हुआ हो। इस सेवा, भक्ति और तल्लीनता का यह पुरस्कार है! मेरे मुख से व्यंग्य-शब्द अवश्य निकले, लेकिन उनके लिये इतना कठोर दंड!

इससे तो यह कहीं अच्छा होता कि मैं कत्ल कर दिया गया होता। अपनी आँखों से अपने परिवार की दुर्गति तो न देखता। सुनता हूँ, पिताजी को सोने के लिये चटाई नही दी गई। न-जाने स्त्रियों पर कैसे-कैसे अत्याचार हो रहे होंगे। लेकिन इतना जानता हूँ कि प्यारी सुखदा अंत तक अपने सतीत्व की रक्षा करेगी; अन्यथा प्राण त्याग देगी। मुझे इन बेड़ियों की परवा नही। पर सुनता हूँ, लड़कों के पैरों मे भी बेड़ियाँ डाली गई है। यह सब इसी कुटिल रोशनुद्दौला की शरारत है। जिसका जो चाहे, इस समय सता ले, कुचल ले; मुझे किसी से कोई शिकायत नही। भगवान् से यही प्रार्थना है कि अब संसार से उठा ले। मुझे अपने जीवन मे जो कुछ करना था, कर चुका, और उसका खूब फल पा चुका। मेरे-जैसे आदमी के लिये संसार मे स्थान नही है।

राजा साहब इन्ही विचारो मे डूबे थे। सहसा उन्हे अपनी काल-कोठरी की ओर किसी के आने की आहट मिली। रात बहुत जा चुकी थी। चारो ओर सन्नाटा छाया था, और उस अंधकारमय सन्नाटे मे किसी के पैरों की चाप स्पष्ट सुनाई देती थी। कोई बहुत पाँव दबा-दबाकर चला आ रहा था। राजा साहब का कलेजा धक-धक करने लगा। वह उठकर खड़े हो गए। हम निरस्त्र और प्रतिकार के लिये असमर्थ होने पर भी बैठे-बैठे वारों का निशाना बनना नही चाहते। खड़े हो जाना आत्म-रक्षा का अंतिम प्रयत्न है। कोठरी मे ऐसी कोई वस्तु न

थी, जिससे वह अपनी रक्षा कर सकते। समझ गए, अंतिम समय आ गया। शत्रुओं ने इस तरह मेरे प्राण लेने की ठानी है। अच्छा है, जीवन के साथ इस विपत्ति का भी अंत हो जायगा।

एक क्षण मे उनके सम्मुख एक आदमी आकर खड़ा हो गया। राजा साहब ने पूछा—"क़ौन है?" उत्तर मिला—"मैं हूँ, आपका सेवक।"

राजा—ओ हो, तुम हो कप्तान! मै शंका मे पड़ा हुआ था कि कही शत्रुओ ने मेरा वध करने के लिये कोई दूत न भेजा हो।

कप्तान—शत्रुओं ने कुछ और ही ठानी है। आज बादशाह सलामत की जान बचती नही नजर आती।

राजा—अरे! यह क्योंकर?

कप्तान—जब से आपको यहाँ नजरबंद किया गया है, सारे राज्य मे हाहाकार मचा हुआ है। स्वार्थी कर्मचारियों ने लूट मचा रक्खी है। अँगरेजों की खुदाई फिर रही है। जो जी मे आता है, करते हैं; किसी को मजाल नहीं कि चूँ कर सके। इस एक महीने मे शहर के सैकड़ों बड़े-बड़े रईस मिट गए। रोशनुद्दौला की बादशाही है। बाज़ारों का भाव चढ़ता जाता है। बाहर से व्यापारी लोग डर के मारे कोई जिंस ही नही लाते। दूकानदारों से मनमानी रक़में महसूल के नाम पर वसूल की जा रही हैं। ग़ल्ले का भाव इतना चढ़ गया है कि कितने

हो घरों मे चूल्हा जलने की नौबत नही आती। सिपाहियों को अभी तक तनख्वाह नहीं मिली। वे जाकर दूकानदारों को लूटते हैं। सारे राज्य मे वद-अमली हो रही है। मैने कई वार यह कैफियत बादशाह सलामत के कानो तक पहुँचाने की कोशिश की; मगर वह यह तो कह देते हैं कि मै इसकी तहकीकात करूँगा, और फिर बेखबर हो जाते हैं। आज शहर के वहुत-से दूकानदार फरियाद लेकर आए थे कि हमारे हाल पर निगाह न की गइ, तो हम शहर छोड़कर और कही चले जायँगे। क्रिस्तानों ने उनको सख्त कहा, धमकाया; लेकिन उन्होंने जब तक अपनी सारी मुसीबत न बयान कर ली, वहाँ से न हटे। आख़िर, जब बादशाह सलामत ने उनको दिलासा दिया, तब कहीं गए।

राजा—बादशाह पर इतना असर हुआ, मुझे तो यही ताज्जुब है!

कप्तान—असर-वसर कुछ नही हुआ, यह भी उनकी एक दिल्लगी है। शाम को खास मुसाहबों को बुलाकर हुक्म दिया है कि आज मै भेष बदलकर शहर का गश्त करूँगा, तुम लोग भी भेष बदले हुए मेरे साथ रहना। मैं देखना चाहता हूँ कि रियाया क्यों इतनी घबराई हुई है। सब लोग मुझसे दूर रहे; किसी को न मालूम हो कि मैं कौन हूँ। रोशनुद्दौला और पाँचो अँगरेज मुसाहब साथ रहेंगे।

राजा—तुम्हें क्योंकर यह बात मालूम हो गई?

कप्तान—मैंने उसी अँगरेज़ हज्जाम को मिला रक्खा है। दरबार मे जो कुछ होता है, उसका पता मुझे मिल जाता है। उसी की सिफ़ारिश से आपको ख़िदमत मे हाज़िर होने का मौक़ा मिला। घड़ियाल मे दस बजते हैं। ग्यारह बजे चलने की तैयारी है। बारह बजते-बजते लखनऊ का तख़्त खाली हो जायगा।

राजा—(घबराकर) क्या इन सबने उन्हे क़त्ल करने की साजिश कर रक्खी है ?

कप्तान—जी नहीं, क़त्ल करने से उनकी मंशा पूरी न होगी। बादशाह को बाजार की सैर कराते हुए गोमती की तरफ़ ले जायँगे। वहाँ अँगरेज सिपाहियों का एक दस्ता तैयार रहेगा। वह बादशाह को फौरन् एक गाड़ी पर बिठाकर रेजि-डेसी ले जायगा। वहाँ रेजिडेट साहब बादशाह सलामत को सल्तनत से इस्तीफा देने पर मजबूर करेगे। उसी वक्त उनसे इस्तीफा लिखा लिया जायगा, और इसके बाद रातोरात उन्हें कलकत्ते भेज दिया जायगा।

राजा—बड़ा ग़ज़ब हो गया। अब तो वक़्त बहुत कम है; बादशाह सलामत निकल पड़े होंगे ?

कप्तान—ग़ज़ब क्या हो गया। इनकी ज़ात से किसे आराम था। दूसरी हुकूमत चाहे कितनी ही खराब हो, इससे तो अच्छी ही होगी।

राजा—अँगरेज़ों की हुकूमत होगी ?

कप्तान—अँगरेज इनसे कहीं बेहतर इंतज़ाम करेंगे।

राजा—(करुण स्वर से) कप्तान! ईश्वर के लिये ऐसी बातें न करो। तुमने मुझसे जरा देर पहले यह कैफियत क्यों न बयान की?

कप्तान—(आश्चर्य से) आपके साथ तो बादशाह ने कोई अच्छा सलूक नहीं किया!

राजा—मेरे साथ कितना ही बुरा सलूक किया हो; लेकिन एक राज्य की कीमत एक आदमी या एक खानदान की जान से कहीं ज्यादा होती है। तुम मेरे पैरों की बेड़ियाँ खुलवा सकते हो?

कप्तान—सारे अवध-राज्य में एक भी ऐसा आदमी न निकलेगा, जो बादशाह को सच्चे दिल से दुआ देता हो। दुनिया उनके ज़ुल्म से तंग आ गई है।

राजा—मैं अपनों के ज़ुल्म को ग़ैरों की बंदगी से कहीं बेहतर खयाल करता हूँ। बादशाह की यह हालत ग़ैरों ही के भरोसे पर हुई है। वह इसीलिये किसी की पर्वा नहीं करते कि उन्हें अँगरेजों की मदद का यक़ीन है। मैं इन फिरंगियों की चालों को ग़ौर से देखता आया हूँ। बादशाह के मिजाज को उन्हीं ने बिगाड़ा है। उनकी मंशा यही थी, जो हुआ। रियाया के दिल से बादशाह की इज्जत और मुहब्बत उठ गई। आज सारा मुल्क बग़ावत करने पर आमादा है। ये लोग इसी मौके का इंतज़ार कर रहे थे। वह जानते हैं कि बादशाह

की माजूली (गद्दी से हटाए जाने) पर एक आदमी भी आँसू न बहावेगा। लेकिन मैं जताए देता हूँ कि अगर इस वक़्त तुमने बादशाह को दुश्मनों के हाथों से न बचाया, तो तुम हमेशा के लिये, अपने ही वतन में, ग़ुलामी की जंजीरों में बँध जाओगे। किसी ग़ैर कौम के चाकर बनकर अगर तुम्हे आफियत (शांति) भी मिली, तो वह आफियत न होगी; मौत होगी। गैरों के बेरहम पैरों के नीचे पड़कर तुम हाथ भी न हिला सकोगे, और यह उम्मीद कि कभी हमारे मुल्क में आईनी सल्तनत (वैध-शासन) क़ायम होगी, हसरत का दाग़ बनकर रह जायगी। नही, मुझमे अभी मुल्क को मुहब्बत बाक़ी है। मैं अभी इतना बेजान नहीं हुआ हूँ। मै इतनी आसानी से सल्तनत को हाथ से न जाने दूँगा, अपने को इतने सस्ते दामों ग़ैरों के हाथों न बेचूंगा, मुल्क की इज़्ज़त को न मिटने दूँगा, चाहे इस कोशिश मे मेरी जान ही क्यों न जाय। कुछ और नहीं कर सकता, अपनी जान तो दे ही सकता हूँ। मेरी बेड़ियाँ खोल दो।

कप्तान—मै आपका ख़ादिम हूँ, मगर मुझे यह मजाज़ नहीं।

राजा—(जोश मे आकर) ज़ालिम, यह इन बातों का वक़्त नहीं। एक-एक पल हमे तबाही की तरफ लिए जा रहा है। खोल दे ये बेड़ियाँ। जिस घर मे आग लगी है, उसके आदमी ख़ुदा को नही याद करते, कुएँ की तरफ दौड़ते हैं।

कप्तान—आप मेरे मुहसिन हैं। आपके हुक्म से मुँह नहीं मोड सकता। लेकिन—

राजा—जल्दी करो, जल्दी करो। अपनी तलवार मुझे दे दो। अब इन तकल्लुफ की बातों का मौका नही है।

कप्तान साहब निरुत्तर हो गए। सजीव उत्साह में बड़ी संक्रामक शक्ति होती है। यद्यपि राजा साहब के नीति-पूर्ण वार्तालाप ने उन्हे माक़ूल नहीं किया, तथापि वह अनिवार्य रूप से उनकी बेडियाँ खोलने पर तत्पर हो गए। उसी वक्त जेल के दारोगा को बुलाकर कहा—साहब ने हुक्म दिया है कि राजा साहब को फौरन् आज़ाद कर दिया जाय। इसमें एक पल की भी ताख़ीर (विलंब) हुई, तो तुम्हारे हक़ मे अच्छा न होगा।

दारोगा को मालूम था, कप्तान साहब और मि०.. . मे गाढ़ी मैत्री है। अगर . ..साहब नाराज़ हो जायँगे, तो रोशनुद्दौला की कोई सिफारिश मेरी रक्षा न कर सकेगी। उसने राजा साहब की बेड़ियाँ खोल दी।

राजा साहब जब तलवार हाथ मे लेकर जेल से निकले, तो उनका हृदय राज्य-भक्ति की तरंगों से आंदोलित हो रहा था। उसी वक्त घड़ियाल ने ११ बजाए।

(३)

आधी रात का समय था। मगर लखनऊ की तंग गलियों में खूब चहल-पहल थी। ऐसा मालूम होता था, अभी सिर्फ

६ बज होंगे । सराफे में सबसे ज्यादा रौनक थी । मगर आश्चर्य यह था कि किसी दूकान पर जवाहरात या गहने नहीं दिखाई देते थे । केवल आदमियों के आने-जाने की भीड़ थी । जिसे देखो, पाँचों शस्त्रों से सुसज्जित, मूछें खड़ी किए, ऐंठता हुआ चला जाता है । बाजार के मामूली दूकानदार भी निश्शस्त्र न थे ।

सहसा एक आदमी, भारी साफा बाँधे, पैर की घुटनियों तक नीची कबा पहने, कमर में पटका बाँधे, आकर एक सराफ की दूकान पर खड़ा हो गया । जान पड़ता था, कोई ईरानी सौदागर है । उन दिनो ईरान के व्यापारी लखनऊ मे बहुत आते-जाते थे । इस समय ऐसे किसी आदमी का आ जाना असाधारण बात न थी ।

सराफ का नाम माधोदास था । बोला—"कहिए मीर साहब, कुछ दिखाऊँ ?"

सौदागर—सोने का क्या निर्ख है ?

माधो—(सौदागर के कान के पास मुँह ले जाकर) निर्ख को कुछ न पूछिए । आज करीब एक महीने से बाज़ार का निर्ख बिगड़ा हुआ है । माल बाज़ार में आता ही नही । लोग दबाए हुए हैं ; बाजारों मे खौफ के मारे नही लाते । अगर आपको ज्यादा माल दरकार हो, तो मेरे साथ ग़रीबख़ाने तक तकलीफ कीजिए । जैसा माल चाहिए, लीजिए । निर्ख मुनासिब ही होगा । इसका इतमीनान रखिए ।

सौदागर—आजकल बाज़ार का निर्ख़ क्यों बिगड़ा हुआ है ?

माधो—क्या आप हाल ही में वारिद हुए हैं ?

सौदागर—हाँ, मै आज ही आया हूँ। कहीं पहले की-सी रौनक नहीं नजर आती। कपड़े का बाज़ार भी सुस्त है। ढाके का एक कीमती थान बहुत तलाश करने पर भी नही मिला।

माधो—इसके बड़े किस्से हैं; कुछ ऐसा ही मुआमला है।

सौदागर—डाकुओं का ज़ोर तो नही है ? पहले तो यहाँ इस किस्म की वारदाते नही होती थी।

माधो—अब वह कैफियत नही है। दिन-दहाड़े डाके पड़ते हैं। उन्हें कोतवाल क्या, बादशाह सलामत भी गिरफ्तार नहीं कर सकते। अब और क्या कहूँ। दीवार के भी कान होते है। कही कोई सुन ले, तो लेने के देने पड जायँ।

सौदागर—सेठजी, आप तो पहेलियाँ बुझवाने लगे। मैं परदेसी आदमी हूँ; यहाँ किससे कहने जाऊँगा। आखिर बात क्या है ? बाजार क्यो इतना बिगड़ा हुआ है ? नाज की मंडी की तरफ गया, तो वहाँ भी सन्नाटा छाया हुआ था। मोटी जिस भी दूने दामो पर बिक रही थी।

माधो—(इधर-उधर चौकन्नी आँखों से देखकर) एक महीना हुआ, रोशनुद्दौला के हाथ मे सियाह-सफेद करने का अख्तियार आ गया है। यह सब उन्ही की बदइंतजामी का फल है। उनके पहले राजा बख्तावरसिंह हमारे मालिक थे। उनके वक्त मे किसी की मजाल न थी कि व्यापारियों को टेढ़ी आँख से देख

सकता। उनका रोब सभी पर छाया हुआ था। फिरंगियों पर उनकी कड़ी निगाह रहती। हुक्म था कि कोई फिरंगी बाज़ार में आवे, तो थाने का सिपाही उसकी देख-भाल करता रहे। इसी वजह से फिरंगी उनसे जला करते थे। आख़िर सबने रोशनुद्दौला को मिलाकर बख़्तावरसिंह को बेक़ुसूर क़ैद करा दिया। बस, तब से बाज़ार मे लूट मची हुई है। सरकारी अमले अलग लूटते हैं; फिरंगी अलग नोचते-खसोटते हैं। जो चीज़ चाहते हैं, उठा ले जाते हैं। दाम माँगो, तो धमकियाँ देते हैं। शाही दरबार में फ़रियाद करो, तो उलटे सज़ा होती है। अभी हाल ही मे हम सब मिलकर बादशाह सलामत की ख़िद-मत में हाज़िर हुए थे। पहले तो वह बहुत नाराज़ हुए, पर आख़िर रहम आ गया। बादशाहों का मिज़ाज ही तो है। हमारी सब शिकायते सुनीं, और तसकीन दी कि हम तहक़ीक़ात करेंगे। मगर अभी तक तो वही लूट-खसोट जारी है।

इतने में तीन आदमी राजपूती ढंग की मिर्ज़ई पहने आकर दूकान के सामने खड़े हो गए। माधोदास उनका रंग-ढंग देख-कर चौका। शाही फ़ौज के सिपाही बहुधा इसी सज-धज से निकलते थे। तीनो आदमी भी सौदागर को देखकर ठिठके; पर उसने उन्हे कुछ ऐसी निगाहों से देखा कि तीनो आगे चले गए। तब सौदागर ने माधोदास से पूछा—"इन्हें देखकर तुम क्यों चौके?"

माधोदास ने कहा—ये फ़ौज के सिपाही हैं। जब से

राजा बख्तावरसिंह नजर-बंद हुए हैं, इन पर किसी की दाब ही नहीं रही। खुले साँड़ की तरह बाजारों में चक्कर लगाया करते हैं। सरकार से तलब मिलने का कुछ ठीक तो है नहीं। बस, नोच-खसोट करके गुज़र करते हैं।—हाँ, तो फिर अगर मरज़ी हो, तो मेरे साथ घर तक चलिए, आपको माल दिखाऊँ।

सौदागर—नहीं भई, इस वक्त नहीं ; सुबह आऊँगा। देर हो गई है, और मुझे भी यहाँ की हालत देखकर खौफ मालूम होने लगा है।

यह कहकर सौदागर उसी तरफ चला गया, जिधर वे तीनो राजपूत गए थे। थोड़ी देर मे और तीन आदमी सराफे मे आए। एक तो पंडितों की तरह नीची चपकन पहने हुए था ; सिर पर गोल पगिया थी, और कंधे पर जरी के काम का शाल। उसके दोनो साथी ख़िदमतगारों के-से कपड़े पहने हुए थे। तीनो इस तरह इधर-उधर ताक रहे थे, मानो किसी को खोज रहे हों। यों ताकते हुए तीनो आगे चले गए।

ईरानी सौदागर तीव्र नेत्रों से इधर-उधर देखता हुआ एक मील चला गया। वहाँ एक छोटा-सा बाग था। एक पुरानी मस्जिद भी थी। सौदागर वहाँ ठहर गया। एकाएक तीनो राजपूत मस्जिद से बाहर निकल आए, और बोले—हुजूर तो बहुत देर तक सराफ की दूकान पर बैठे रहे। क्या बातें हुईं ?

सौदागर ने अभी कुछ जवाब न दिया था कि पीछे से पंडित

और उनके दोनो खिदमतगार भी आ पहुँचे। सौदागर ने पंडित को देखते ही भर्त्सना-पूर्ण शब्दों में कहा—मियाँ रोशनुद्दौला, मुझे इस वक्त तुम्हारे ऊपर इतना गुस्सा आ रहा है कि तुम्हें कुत्तों से नुचवा दूँ। नमकहराम कहीं का! दगाबाज़!! तूने मेरी सल्तनत को तबाह कर दिया! सारा शहर तेरे जुल्म का रोना रो रहा है! मुझे आज मालूम हुआ कि तूने क्यों राजा बख्तावरसिंह को कैद कराया। मेरी अक्ल पर न-जाने क्यों पत्थर पड़ गए थे कि मैं तेरी चिकनी-चुपड़ी बातों मे आ गया। इस नमकहरामी की तुझे वह सज़ा दूँगा कि देखनेवालों को भी इबरत (शिक्षा) हो।

रोशनुद्दौला ने निर्भीकता से उत्तर दिया—आप मेरे बादशाह हैं, इसलिये आपका अदब करता हूँ, वर्ना इसी वक्त इस बदज़बानी का मजा चखा देता। खुद आप तो महल मे हसीनों के साथ ऐश किया करते हैं, दूसरो को क्या ग़रज़ पड़ी है कि सल्तनत को फिक्र से दुबले हों। ख़ूब, हम अपना खून जलावें, और आप जशन मनावें। ऐसे अहमक कहीं और रहते होंगे।

बादशाह—(क्रोध से काँपते हुए) मि० . ...मैं तुम्हे हुक्म देता हूँ कि इस नमकहराम को अभी गोली मार दो। मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता। और, इसी वक्त जाकर इसकी सारी जायदाद जब्त कर लो। इसके खानदान का एक बच्चा भी जिंदा न रहने पावे।

रोशन—मि०..... मै तुम्हे हुक्म देता हूँ कि इस मुल्क और क़ौम के दुश्मन, रैयत-कातिल और बदकार आदमी को फौरन् गिरफ्तार कर लो। यह इस क़ाबिल नहीं कि ताज और तख्त का मालिक बने।

इतना सुनते ही पाँचो अँगरेज मुसाहबों ने, जो भेष बदले हुए साथ थे, बादशाह के दोनो हाथ पकड़ लिए, और खींचते हुए गोमती की तरफ ले चले। बादशाह की आँखे खुल गई। समझ गए कि पहले ही से यह षड्यंत्र रचा गया था। इधर-उधर देखा, कोई आदमी नही। शोर मचाना व्यर्थ था। बादशाही का नशा उतर गया। दुरवस्था वह परीक्षाग्नि है, जो मुलम्मे और रोगन को उतारकर मनुष्य का यथार्थ रूप दिखा देती है। ऐसे ही अवसरों पर विदित होता है कि मानव-हृदय पर कृत्रिम भावों का कितना गहरा रंग चढ़ा होता है। एक क्षण मे बादशाह को उद्दंडता और घमंड ने दीनता और विनम्रशीलता का आश्रय लिया। बोले—मैने तो आप लोगों को मरजी के खिलाफ ऐसा कोई काम नही किया, जिसकी यह सजा मिले। मैने आप लोगों को हमेशा अपना दोस्त समझा है।

रोशन—तो हम लोग जो कुछ कर रहे हैं, वह भी आपके फायदे के लिये ही कर रहे हैं। हम आपके सिर से सल्तनत का बोझ उतारकर आपको आजाद कर देंगे। तब आपके ऐश मे खलल न पड़ेगा। आप बेफिक्र होकर हसीनों के साथ ज़िदगी के मजे लूटिएगा।

बादशाह—तो क्या आप लोग मुझे तख्त से उतारना चाहते हैं ?

रोशन—नहीं, आपका बादशाही की ज़िम्मेदारियों से आज़ाद कर देना चाहते हैं।

बादशाह—हज़रत इमाम की कसम, मैं यह ज़िल्लत न बर्दाश्त करूँगा। मैं अपने बुज़ुर्गों का नाम न डुबाऊँगा।

रोशन—आपके बुज़ुर्गों के नाम की फ़िक्र हमें आपसे ज़्यादा है। आपकी ऐशपरस्ती बुज़ुर्गों का नाम रोशन नही कर रही है।

बादशाह—(दीनता से) मैं वायदा करता हूँ कि आइंदा से मै आप लोगों को शिकायत का कोई मौका न दूँगा।

रोशन—नशेबाज़ो के वायदों पर कोई दीवाना ही यक़ीन ला सकता है।

बादशाह—तुम मुझे तख्त से ज़बरदस्ती नही उतार सकते।

रोशन—इन धमकियों की ज़रूरत नहीं। चुपचाप चले चलिए ; आगे आपको सेज-गाड़ी मिल जायगी। हम आपको इज़्ज़त के साथ रुख़सत करेंगे।

बादशाह—आप जानते हैं, रियाया पर इसका क्या असर होगा ?

रोशन—ख़ूब जानता हूँ ! आपकी हिमायत मे एक उँगली भी न उठेगी। कल सारी सल्तनत मे घी के चिराग़ जलेंगे।

इतनी देर मे सब लोग उस स्थान पर आ पहुँचे, जहाँ बाद-

शाह को ले जाने के लिये सवारी तैयार खड़ी थी। लगभग २५ सशस्त्र गोरे सिपाही भी खड़े थे। बादशाह सेज-गाड़ी को देखकर मचल गए। उनके रुधिर की गति तीव्र हो गई। भोग और विलास के नीचे दबी हुई मर्यादा सजग हो गई। उन्होंने ज़ोर से झटका देकर अपना हाथ छुड़ा लिया, और नैराश्य-पूर्ण दुस्साहस के साथ, परिणाम-भय को त्यागकर, उच्च स्वर से बोले—ऐ लखनऊ के बसनेवालो! तुम्हारा बादशाह यहाँ दुश्मनों के हाथों क़त्ल किया जा रहा है। उसे इनके हाथ से बचाओ, दौड़ो, वर्ना पछताओगे!

यह आर्त-पुकार आकाश की नीरवता को चीरती हुई गोमती की लहरों में विलीन नहीं हुई, बल्कि लखनऊवालों के हृदयों में जा पहुँची। राजा बख्तावरसिंह बंदी-गृह से निकलकर नगर-निवासियों को उत्तेजित करते, और प्रतिक्षण रक्षाकारियों के दल को बढ़ाते बड़े वेग से, दौड़े चले आ रहे थे। एक पल का विलंब भी षड्यन्त्रकारियों के घातक विरोध को सफल कर सकता था। देखते-देखते उनके साथ दो-तीन हज़ार सशस्त्र मनुष्यों का दल हो गया था। यह सामूहिक शक्ति बादशाह और लखनऊ-राज्य का उद्धार कर सकती थी। समय सब कुछ था। बादशाह गोरी सेना के पंजे में फँस गए, तो फिर समस्त लखनऊ भी उन्हें मुक्त न कर सकता था। राजा साहब ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते थे, नैराश्य से दिल बैठा जाता था। विफल-मनोरथ होने की शंका से उत्साह भंग हुआ जाता

था। अब तक कहीं उन लोगों का पता नहीं! अवश्य हम देर में पहुँचे। विद्रोहियों ने अपना काम पूरा कर लिया। लखनऊ-राज्य की स्वाधीनता सदा के लिये विसर्जित हो गई!

ये लोग निराश होकर लौटना ही चाहते थे कि अचानक बादशाह का आर्तनाद सुनाई दिया था। कई हज़ार कंठों से आकाशभेदी ध्वनि निकली—हुज़ूर को ख़ुदा सलामत रक्खे, हम फ़िदा होने को आ पहुँचे!

समस्त दल एक ही प्रबल इच्छा से प्रेरित होकर, वेगवती जलधारा की भाँति, घटना-स्थल की ओर दौड़ा। अशक्त लोग भी सशक्त हो गए। पिछड़े हुए लोग आगे निकल जाना चाहते थे। आगे के लोग चाहते थे कि उड़कर जा पहुँचे।

इन आदमियों की आहट पाते ही गोरों ने बंदूकें भरीं, और २५ बंदूकों की बाढ़ सर हो गई। रक्षाकारियों में से कितने ही लोग गिर पड़े; मगर क़दम पीछे न हटे। वीर-मद ने और भी मतवाला कर दिया। एक क्षण में दूसरी बाढ़ आई; कुछ लोग फिर वीर-गति को प्राप्त हुए। लेकिन कदम आगे ही बढ़ते गए। तीसरी बाढ़ छूटनेवाली ही थी कि लोगों ने विद्रोहियों को जा लिया। गोरे भागे।

लोग बादशाह के पास पहुँचे। अद्भुत दृश्य था। बादशाह रोशनुद्दौला की छाती पर सवार थे। जब गोरे जान लेकर भागे, तो बादशाह ने इस नर पिशाच को पकड़ लिया था, और उसे बल-पूर्वक भूमि पर गिराकर उसकी छाती पर बैठ गए थ।

अगर उनके हाथ मे हथियार होता, तो इस वक्त, रोशन की लाश फड़कती हुई दिखाई देती।

राजा बख्तावरसिंह आगे बढ़कर बादशाह को आदाब बजा लाए। लोगों की जय-ध्वनि से आकाश हिल उठा। कोई बादशाह के पैरों को चूमता, कोई उन्हे आशीर्वाद देता।

रोशनुद्दौला का शरीर तो लात और घूसों का लक्ष्य बना हुआ था। कुछ बिगड़े-दिल ऐसे भी थे, जो उसके मुँह पर थूकते भी संकोच न करते थे।

(४)

प्रातःकाल था। लखनऊ मे आनंदोत्सव मनाया जा रहा था। बादशाही महल के सामने लाखों आदमी जमा थे। सब लोग बादशाह को यथायोग्य नजर देने आए थे। जगह-जगह गरीबों को भोजन कराया जा रहा था। शाही नौबतखाने में नौबत झड़ रही थी।

दरबार सजा। बादशाह हीरे और जवाहर से जगमगाते, रत्न-जटित आभूषणों से सजे हुए सिंहासन पर आ विराजे। रईसों और अमीरों ने नजरे गुजारी। शायरो ने क़सीदे पढ़े। एकाएक बादशाह ने पूछा—राजा बख्तावरसिंह कहाँ हैं? कप्तान ने जवाब दिया—क़ैदखाने मे।

बादशाह ने उसी वक्त, कई कर्मचारियों को भेजा कि राजा साहब को जेलखाने से इज्जत के साथ लावें। जब थोड़ी देर के बाद राजा ने आकर बादशाह को सलाम किया, वह तख्त

से उतरकर उनसे गले मिले, और उन्हे अपनी दाहनी ओर सिंहासन पर बैठाया। फिर दरबार मे खड़े होकर उनकी सुकीर्ति और राज्य-भक्ति की प्रशंसा करने के उपरांत अपने ही हाथों से उन्हें खिलअत पहनाई। राजा साहब के कुटुंब के प्राणी भी आदर और सम्मान के साथ बिदा किए गए।

अंत को जब दोपहर के समय दरबार बरखास्त होने लगा, तो बादशाह ने राजा साहब से कहा—आपने मुझ पर और मेरी सल्तनत पर जो एहसान किया है, उसका सिला (पुरस्कार) देना मेरे इमकान से बाहर है। मेरी आपसे यही इल्तिजा (अनुरोध) है कि आप वजारत का क़लमदान अपने हाथ मे लीजिए, और सल्तनत का, जिस तरह मुनासिब समझिए, इंतज़ाम कीजिए। मै आपके किसी काम मे दखल न दूँगा। मुझे एक गोशे मे पड़ा रहने दीजिए। नमकहराम रोशन को भी मै आपके सिपुर्द किए देता हूँ। आप जो सज़ा चाहे, इसे दें। मै इस कब का जहन्नुम भेज चुका होता, पर यह समझकर कि यह आपका शिकार है, इसे छोड़े हुए हूँ।

लेकिन बख्तावरसिंह बादशाह के उच्छृंखल स्वभाव से भली भाँति परिचित थे। वह जानते थे, बादशाह की ये सदिच्छाएँ थोड़े ही दिनों की मेहमान हैं। मानव-चरित्र मे आकस्मिक परिवर्तन बहुत कम हुआ करते है। दो-चार महीने मे दरबार का फिर वही रंग हो जायगा। इसलिये मेरा तटस्थ रहना ही अच्छा है। राज्य के प्रति मेरा जो कुछ कर्तव्य था, वह मैंने पूरा

कर दिया। मै दरबार से अलग रहकर, निष्काम भाव से, जितनी सेवा कर सकता हूँ, उतनी दरबार मे रहकर कदापि नही। हितैषी मित्र का जितना सम्मान होता है, स्वामि-भक्त सेवक का उतना नही हो सकता।

वह विनीत भाव से बोल—हुजूर, मुझे इस ओहदे से मुआफ रक्खे। मै यो ही आपका खादिम हूँ। इस मसब पर किसी लायक आदमी को मामूर फरमाइए (नियुक्त कीजिए)। मै अक्खड़ राजपूत हूँ। मुल्की इंतजाम करना क्या जानूँ।

बादशाह—मुझे तो आपसे ज्यादा लायक और वफादार आदमी नज़र नहीं आता।

मगर राजा साहब उनकी बातों मे न आए। आखिर मजबूर होकर बादशाह ने उन्हे ज्यादा न दबाया। दम-भर बाद जब रोशनुद्दौला को सज़ा देने का प्रश्न उठा, तब दोनो आदमियों मे इतना मत-भेद हुआ कि वाद-विवाद की नौबत आ गई। बादशाह आग्रह करते थे कि इसे कुत्तो से नुचवा दिया जाय। राजा साहब इस बात पर अड़े हुए थें कि इसे जान से न मारा जाय, केवल नज़रबंद कर दिया जाय। अंत में बादशाह ने क्रुद्ध होकर कहा—यह एक दिन आपको जरूर दग़ा देगा!

राजा—इस खौफ से मै इसकी जान न लूँगा।

बादशाह—तो जनाब, आप चाहे इसे मुआफ कर दें, मैं कभी मुआफ नहीं कर सकता।

राजा—आपने तो इसे मेरे सिपुर्द कर दिया है। दी हुई चीज़ को आप वापस कैसे लेंगे ?

बादशाह ने कहा—तुमने मेरे निकलने का कहीं रास्ता ही नहीं रक्खा।

रोशनुद्दौला की जान बच गई। वज़ारत का पद कप्तान साहब को मिला। मगर सबसे विचित्र बात यह थी कि रेजीडेंट ने इस षड्यंत्र से पूर्ण अनभिज्ञता प्रकट की, और साफ लिख दिया कि बादशाह सलामत अपने अँगरेज़ मुसाहबों को चाहे जो सज़ा दें, मुझे कोई आपत्ति न होगी। मैं उन्हे पाता, तो स्वयं बादशाह की ख़िदमत में भेज देता, लेकिन पाँचो महानुभावों मे से एक का भी पता न चला। शायद वे सब-के-सब रातो-रात कलकत्ते भाग गए थे। इतिहास मे उक्त घटना का कही उल्लेख नहीं किया गया ; लेकिन किवदंतियाँ, जो इतिहास से अधिक विश्वसनीय हैं, उसकी सत्यता की साक्षी हैं।

अधिकार-चिंता

(१)

टामी यों देखने में तो बहुत तगड़ा था। भूँकता, तो सुनने-वालों के कानों के परदे फट जाते। डील-डौल भी ऐसा कि अँधेरी रात मे उस पर गधे का भ्रम हो जाता। लेकिन उसकी श्वानोचित वीरता किसी संग्राम-क्षेत्र मे प्रमाणित न होती थी। दो-चार दफ़ जब बाज़ार के लेंडियों ने उसे चुनौती दी, तो वह उनका गर्व-मर्दन करने के लिये मैदान मे आया। देखनेवालों का कहना है कि वह जब तक लड़ा, जोवट से लड़ा; नखों और दाँतो से ज्यादा चाटें उसको दुम ने की। निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि मैदान किसके हाथ रहता, किंतु जब उस दल को कुमक मँगानी पड़ी, तो रण-शास्त्र के नियमों के अनुसार विजय का श्रेय टामी को ही देना उचित न्याया-नुकूल जान पड़ता है। टामी ने उस अवसर पर कौशल से काम लिया और दाँत निकाल दिए, जो संधि की याचना थी। किंतु तब से उसने ऐसे सन्नीति-विहीन प्रतिद्वंद्वियों के मुँह लगना उचित न समझा।

इतना शांति-प्रिय होने पर भी टामी के शत्रुओं की संख्या दिनोदिन बढ़ती जाती थी। उसके बराबरवाले तो उससे इस-लिये जलते कि वह इतना मोटा ताजा होकर इतना भीरु क्यों

है। बाज़ारी दल इसलिये जलता कि टामी के मारे घूरों पर की हड्डियाँ भी न बचने पाती थी। वह घड़ी रात रहे उठता, और हलवाइयों की दूकानों के सामने के दाने और पत्तल, कसाईख़ाने के सामने की हड्डियाँ और छीछड़े चबा डालता। अतएव इतने शत्रुओं के बीच मे रहकर टामी का जीवन संकटमय होता जाता था। महीनों बीत जाते, और पेट भर भोजन न मिलता। दो-तीन बार उसे मन-माने भोजन करने की ऐसी प्रबल उत्कंठा हुई कि उसने संदिग्ध साधनों द्वारा उसे पूर्ण करने की चेष्टा की; पर जब परिणाम आशा के प्रतिकूल हुआ और स्वादिष्ट पदार्थों के बदले अरुचिकर, दुर्ग्राह्य वस्तुएँ भर-पेट खाने को मिली—जिससे पेट के बदले कई दिन तक पीठ मे विषम वेदना होती रही—तो उसने विवश होकर फिर सन्मार्ग का आश्रय लिया। पर डंडो से पेट चाहे भर गया हो, वह उत्कंठा शांत न हुई। वह किसी ऐसी जगह जाना चाहता था, जहाँ ख़ूब शिकार मिले; ख़रगोश, हिरन, भेड़ो के बच्चे मैदानो मे विचर रहे हो, और उनका कोई मालिक न हो; जहाँ किसी प्रतिद्वंद्वी की गंध तक न हो; आराम करने को सघन वृक्षों की छाया हो, पीने को नदी का पवित्र जल। वहाँ मन-माना शिकार करूँ, खाऊँ, और मीठी नीद सोऊँ। वहाँ चारो ओर मेरी धाक बैठ जाय; सब पर ऐसा रोब छा जाय कि मुझको ही अपना राजा समझने लगें, और धीरे-धीरे मेरा ऐसा सिक्का बैठ जाय कि किसी द्वेषी को वहाँ पैर रखने का साहस ही न हो।

संयोग-वश एक दिन वह इन्हीं कल्पनाओं के सुख-स्वप्न देखता हुआ, सिर झुकाए, सडक छोड़कर गलियों से चला जा रहा था कि सहसा एक सज्जन से उसकी मुठभेड़ हो गई। टामी ने चाहा कि बचकर निकल जाऊँ; पर वह दुष्ट इतना शांति-प्रिय न था। उसने तुरंत झपटकर टामी का टेटुआ पकड़ लिया। टामी ने बहुत अनुनय-विनय की; गिड़गिड़ाकर कहा— ईश्वर के लिये मुझे यहाँ से चले जाने दो; कसम ले लो, जो इधर पैर रक्खूँ। मेरी शामत आई थी कि तुम्हारे अधिकार-क्षेत्र मे चला आया। पर उस मदांध और निर्दय प्राणी ने ज़रा भी रियायत न की। अंत मे हारकर टामी ने गर्दभ-स्वर मे फरियाद करनी शुरू की। यह कोलाहल सुनकर मोहल्ले के दो-चार नेता लोग एकत्र हो गए; पर उन्होंने भी दीन पर दया करने के बदले उलटे उसी पर दंत-प्रहार करना शुरू किया। इस अन्याय-पूर्ण व्यवहार ने टामी का दिल तोड़ दिया। वह जान छोड़कर भागा। उन अत्याचारी पशुओं ने बहुत दूर तक उसका पीछा किया; यहाँ तक कि मार्ग मे एक नदी पड़ गई। टामी ने उसमें कूदकर अपनी जान बचाई।

कहते हैं, एक दिन सबके दिन फिरते हैं। टामी के दिन भी नदी मे कूदते ही फिर गए। कूदा था जान बचाने के लिये, हाथ लग गए मोती। तैरता हुआ उस पार पहुँचा, तो वहाँ उसकी चिर-संचित अभिलाषाएँ मूर्तिमती हो रही थीं।

(२)

एक विस्तृत मैदान था। जहाँ तक निगाह जाती, हरियाली की छटा दिखाई देती। कहीं नालों का मधुर कलरव था, कहीं झरनों का मंद गान; कहीं वृक्षों के सुखद पुंज, कही रेत के सपाट मैदान। बड़ा सुरम्य, मनोहर दृश्य था।

यहाँ बड़े तेज़ नखोवाले पशु थे, जिनकी सूरत देखकर टामी का कलेजा दहल उठता। उन्होंने टामी की कुछ परवा न की। वे आपस में नित्य लड़ा करते; नित्य ख़ून की नदी बहा करती थी। टामी ने देखा, यहाँ इन भयंकर जंतुओं से पेश न पा सकूँगा। उसने कौशल से काम लेना शुरू किया। जब दो लड़नेवाले पशुओं मे एक घायल और मुर्दा होकर गिर पड़ता, तो टामी लपककर मांस का कोई टुकड़ा ले भागता और एकांत में बैठकर खाता। विजयी पशु विजय के उन्माद में उसे तुच्छ समझकर कुछ न बोलता।

अब क्या था, टामी के पौ-बारह हो गए। सदा दिवाली रहने लगी। न गुड़ की कमी थी, न गेहूँ की। नित नए पदार्थ उड़ाता और वृक्षों के नीचे आनंद से सोता। उसने ऐसे सुख स्वर्ग की कल्पना भी न की थी। वह मरकर नही, जीते-जो स्वर्ग पा गया।

थोड़े ही दिनों मे पौष्टिक पदार्थों के सेवन से टामी की चेष्टा ही कुछ और हो गई। उसका शरीर तेजस्वी और सुसंगठित हो गया। अब वह छोटे-मोटे जीवों पर स्वयं हाथ साफ़ करने लगा। जंगल के जंतु तब चौंके, और उसे वहाँ से भगा देने का

यत्न करने लगे। टामी ने एक नई चाल चली। वह कभी किसी पशु से कहता, तुम्हारा फ़लाँ शत्रु तुम्हें मार डालने की तैयारी कर रहा है; किसी से कहता, फलाँ तुमको गाली देता था। जंगल के जंतु उसके चकमे में आकर आपस मे लड़ जाते, और टामी की चाँदी हो जाती। अंत मे यहाँ तक नौबत पहुँची कि बड़े-बड़े जंतुओं का नाश हो गया। छोटे-छोटे पशुओं को उससे मुकाबला करने का साहस न होता। उसकी उन्नति और शक्ति देखकर उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो यह विचित्र जीव आकाश से हमारे ऊपर शासन करने के लिये भेजा गया है। टामी भी अब अपनी शिकारबाजी के जौहर दिखाकर उनको इस भ्रांति को पुष्ट किया करता। वह बड़े गर्व से कहता—परमात्मा ने मुझे तुम्हारे ऊपर राज्य करने के लिये भेजा है। यह ईश्वर की इच्छा है। तुम आराम से अपने घरों मे पड़े रहो, मैं तुमसे कुछ न बोलूंगा, केवल तुम्हारी सेवा करने के पुरस्कार-स्वरूप तुममें से एक-आध का शिकार कर लिया करूँगा। आख़िर मेरे भी तो पेट है; बिना आहार के कैसे जीवित रहूँगा, और कैसे तुम्हारी रक्षा करूँगा? वह अब बड़ी शान से जंगल मे चारो ओर गौरवान्वित दृष्टि से ताकता हुआ विचरा करता।

टामी को अब कोई चिंता थी, तो यह कि इस देश मे मेरा कोई मुद्दई न उठ खड़ा हो। वह नित्य सजग और सशस्त्र रहने लगा। ज्यों-ज्यों दिन गुज़रते थे, और उसके सुख-भोग का चसका बढ़ता जाता था, त्यों-त्यो उसकी चिंता भी बढ़ती जाती थी।

वह अब बहुधा रात को चौंक पड़ता, और किसी अज्ञात शत्रु के पीछे दौड़ता। अक्सर "अंधा कूकुर बतासे भूँके"-वाली लोकोक्ति को चरितार्थ करता; वन के पशुओं से कहता— ईश्वर न करे कि तुम किसी दूसरे शासक के पंजे में फँस जाओ। वह तुम्हें पीस डालेगा। मैं तुम्हारा हितैषी हूँ; सदैव तुम्हारी शुभ कामना में मग्न रहता हूँ। किसी दूसरे से यह आशा मत रक्खो। पशु एक ही स्वर से कहते—जब तक हम जिएँगे, आप ही के अधीन रहेंगे!

आखिरकार यह हुआ कि टामी को क्षण-भर भी शांति से बैठना दुर्लभ हो गया। वह रात-रात और दिन-दिन-भर नदी के किनारे इधर-से-उधर चक्कर लगाया करता। दौड़ते-दौड़ते हाँफने लगता, बेदम हो जाता; मगर चित्त को शांति न मिलती। कहीं कोई शत्रु न घुस आए।

लेकिन क्वार का महीना आया, तो टामी का चित्त एक बार फिर अपने पुराने सहचरों से मिलने के लिये लालायित होने लगा। वह अपने मन को किसी भाँति रोक न सका। उसे वह दिन याद आया, जब वह दो-चार मित्रों के साथ किसी प्रेमिका के पीछे गली-गली और कूचे-कूचे में चक्कर लगाता था। दो-चार दिन उसने सब्र किया, पर अंत में आवेग इतना प्रबल हुआ कि वह तक़दीर ठोककर खड़ा हो गया। उसे अब अपने तेज और बल पर अभिमान भी था। दो-चार को तो वह अकेले मजा चखा सकता था।

किंतु नदी के इस पार आते ही उसका आत्मविश्वास प्रातः-काल के तम के समान फटने लगा। उसकी चाल मंद पड़ गई, सिर आप-ही-आप झुक गया, दुम सिकुड़ गई। मगर एक प्रेमिका को आते देखकर वह विह्वल हो उठा; उसके पीछे हो लिया। प्रेमिका को उसकी वह कुचेष्टा अप्रिय लगी। उसने तीव्र स्वर से उसकी अवहेलना की। उसकी आवाज़ सुनते ही उसके कई प्रेमी आ पहुँचे, और टामी को वहाँ देखते ही जामे से बाहर हो गए। टामी सिटपिटा गया। अभी निश्चय न कर सका था कि क्या करूँ कि चारों ओर से उस पर दाँतों और नखों की वर्षा होने लगी। भागते भी न बन पड़ा। देह लहू-लुहान हो गई। भागा भी, तो शैतानों का एक दल पीछे था।

उस दिन से उसके दिल में शंका-सी समा गई। हर घड़ी यह भय लगा रहता कि आक्रमणकारियों का दल मेरे सुख और शांति में बाधा डालने के लिये, मेरे स्वर्ग को विध्वंस करने के लिये, आ रहा है। यह शंका पहले भी कम न थी; अब और भी बढ़ गई।

एक दिन उसका चित्त भय से इतना व्याकुल हुआ कि उसे जान पड़ा, शत्रु-दल आ पहुँचा। वह बड़े वेग से नदी के किनारे आया, और इधर-से-उधर दौड़ने लगा।

दिन बीत गया, रात बीत गई; पर उसने विश्राम न लिया। दूसरा दिन आया और गया; पर टामी निराहार-निर्जल, नदी के किनारे, चक्कर लगाता रहा।

इस तरह पाँच दिन बीत गए। टामी के पैर लड़खड़ाने लगे, आँखों-तले अँधेरा छाने लगा। क्षुधा से व्याकुल होकर गिर-गिर पड़ता, पर वह शंका किसी भाँति शांत न होती।

अंत में सातवें दिन अभागा टामी अधिकार-चिंता से ग्रस्त, जर्जर और शिथिल होकर परलोक सिधारा। वन का कोई पशु उसके निकट न गया। किसी ने उसकी चर्चा तक न की; किसी ने उसकी लाश पर आँसू तक न बहाए। कई दिनों तक उस पर गिद्ध और कौए मँडराते रहे; अंत में अस्थि-पंजरों के सिवा और कुछ न रह गया।

गृह-दाह

(१)

सत्यप्रकाश के जन्मोत्सव मे लाला देवप्रकाश ने बहुत रुपए खर्च किए थे। उसका विद्यारंभ-संस्कार भी खूब धूम-धाम से किया गया। उसके हवा खाने को एक छोटी-सी गाड़ी थी। शाम को नौकर उसे टहलाने ले जाता। एक नौकर उसे पाठशाला पहुँचाने जाता, दिन-भर वही बैठा रहता और उसे साथ लेकर घर आता था। कितना सुशील, होनहार बालक था! गोरा मुखड़ा, बड़ी-बड़ी आँखे, ऊँचा मस्तक, पतले-पतले लाल अधर, भरे हुए हाथ-पाँव। उसे देखकर सहसा मुँह से निकल पड़ता था—भगवान् इसे जिला दे, प्रतापी मनुष्य होगा। उसकी बाल-बुद्धि की प्रखरता पर लोगों को आश्चर्य होता था। नित्य उसके मुख-चंद्र पर हँसी खेलती रहती थी। किसी ने उसे हठ करते या रोते नहीं देखा।

वर्षा के दिन थे। देवप्रकाश बहन को लेकर गंगा-स्नान करने गए। नदी खूब चढ़ी हुई थी, मानो अनाथ की आँखे हों। उसकी पत्नी निर्मला जल मे बैठकर क्रीड़ा करने लगी। कभी आगे जाती, कभी पीछे जाती, कभी डुबकी मारती, कभी अंजुलियो से छीटे उड़ाती। देवप्रकाश ने कहा—अच्छा, अब

निकलो, नहीं तो सरदी हो जायगी। निर्मला ने कहा—कहो, तो मैं छाती तक पानी मे चली जाऊँ ?

देवप्रकाश—और, जो कही पैर फिसल जाय !

निर्मला—पैर क्या फिसलेगा !

यह कहकर वह छाती तक पानी मे चली गई। पति ने कहा—अच्छा, अब आगे पैर न रखना। किंतु निर्मला के सिर पर मौत खेल रही थी। यह जल-क्रीड़ा नहीं—मृत्यु-क्रीड़ा थी। उसने एक पग और आगे बढ़ाया और फिसल गई। मुँह से एक चीख़ निकली; दोनो हाथ सहारे के लिये ऊपर उठे और फिर जल-मग्न हो गए। एक पल मे प्यासी नदी उसे पी गई। देवप्रकाश खड़े तौलिए से देह पोछ रहे थे। तुरंत पानी मे कूदे, साथ का कहार भी कूदा। दो मल्लाह भी कूद पड़े। सब ने डुबकियाँ मारी, टटोला; पर निर्मला का पता न चला। तब डोंगी मँगवाई गई। मल्लाहो ने बार-बार ग़ोते मारे; पर लाश हाथ न आई। देवप्रकाश शोक में डूबे हुए घर आए। सत्यप्रकाश किसी उपहार की आशा मे दौड़ा। पिता ने गोद मे उठा लिया, और बड़े यत्न करने पर भी अपनी सिसकी न रोक सके। सत्यप्रकाश ने पूछा—अम्मा कहाँ हैं ?

देव०—बेटा, गंगा ने उन्हें नेवता खाने के लिये रोक लिया।

सत्यप्रकाश ने उनके मुख की ओर जिज्ञासा-भाव से देखा और आशय समझ गया। 'अम्मा, अम्मा' कहकर रोने लगा।

(२)

मातृहीन बालक संसार का सबसे करुणाजनक प्राणी है। दीन-से-दीन प्राणियों को भी ईश्वर का आधार होता है, जो उनके हृदय को सँभालता रहता है। मातृहीन बालक इस आधार से भी वंचित होता है। माता ही उसके जीवन का एक-मात्र आधार होती है। माता के बिना वह पंख-हीन पक्षी है।

सत्यप्रकाश को एकांत से प्रेम हो गया। अकेले बैठा रहता। वृक्षों मे उसे उस सहानुभूति का कुछ-कुछ अज्ञात अनुभव होता था, जो घर के प्राणियों मे उसे न मिलती थी। माता का प्रेम था, तो सभी प्रेम करते थे; माता का प्रेम उठ गया, तो सभी निष्ठुर हो गए। पिता की आँखों मे भी वह प्रेम-ज्योति न रही। दरिद्र को कौन भिक्षा देता है?

छः महीने बीत गए। सहसा एक दिन उसे मालूम हुआ, मेरी नई माता आनेवाली है। दौड़ा पिता के पास गया और पूछा—क्या मेरी नई माता आवेगी? पिता ने कहा—हाँ, बेटा, वह आकर तुम्हें प्यार करेंगी।

सत्य०—क्या मेरी मा स्वर्ग से आ जायँगी?

देव०—हाँ, वही आ जायँगी।

सत्य०—मुझे उसी तरह प्यार करेंगी?

देवप्रकाश इसका क्या उत्तर देते? मगर सत्यप्रकाश उस दिन से प्रसन्न-मन रहने लगा। अम्मा आवेंगी! मुझे गोद मे लेकर प्यार करेंगी! अब मैं उन्हे कभी दिक न

करूँगा, कभी ज़िद न करूँगा, अच्छी-अच्छी कहानियाँ सुनाया करूँगा।

विवाह के दिन आए। घर मे तैयारियाँ होने लगीं। सत्यप्रकाश ख़ुशी से फूला न समाता। मेरी नई अम्मा आवेगी। बरात मे वह भी गया। नए-नए कपड़े मिले। पालकी पर बैठा। नानी ने अंदर बुलाया, और उसे गोद में लेकर एक अशरफी दी। वहीं उसे नई माता के दर्शन हुए। नानी ने नई माता से कहा—बेटी, कैसा सुदर बालक है! इसे प्यार करना।

सत्यप्रकाश ने नई माता को देखा और मुग्ध हो गया। बच्चे भी रूप के उपासक होते हैं। एक लावण्यमयी मूर्ति आभूषणों से लदी सामने खड़ी थी। उसने दोना हाथों से उसका अचल पकड़कर कहा—अम्मा!

कितना अरुचिकर शब्द था, कितना लज्जायुक्त, कितना अप्रिय! वह ललना, जो 'देवप्रिया' नाम से संबोधित होती थी, उत्तरदायित्व, त्याग और क्षमा का संबोधन न सह सकी। अभी वह प्रेम और विलास का सुख-स्वप्न देख रही थी—यौवन-काल की मदमय वायु-तरंगों में आंदोलित हो रही थी। इस शब्द ने उसके स्वप्न को भंग कर दिया। कुछ रुष्ट होकर बोली—मुझे अम्मा मत कहो।

सत्यप्रकाश ने विस्मित नेत्रों से देखा। उसका बाल-स्वप्न भंग हो गया। आँखें डबडबा गई। नानी ने कहा—बेटी,

देखो, लड़के का दिल छोटा हो गया। वह क्या जाने, क्या कहना चाहिए। अम्मा कह दिया, तो तुम्हें कौन-सी चोट लग गई?

देवप्रिया ने कहा—मुझे अम्मा न कहे।

(३)

सौत का पुत्र विमाता की आँखों मे क्यों इतना खटकता है, इसका निर्णय आज तक किसी मनोभाव के पंडित ने नहीं किया। हम किस गिनती मे हैं। देवप्रिया जब तक गर्भिणी न हुई, वह सत्यप्रकाश से कभी-कभी बाते करती, कहानियाँ सुनाती; किंतु गर्भिणी होते ही उसका व्यवहार कठोर हो गया। प्रसव-काल ज्यों-ज्यों निकट आता था, उसकी कठोरता बढ़ती ही जाती थी। जिस दिन उसकी गोद में एक चाँद-से बच्चे का आगमन हुआ, सत्यप्रकाश ख़ूब उछला-कूदा और सौर-गृह में दौड़ा हुआ बच्चे को देखने गया। बच्चा देवप्रिया की गोद मे सो रहा था। सत्यप्रकाश ने बड़ी उत्सुकता से बच्चे को विमाता की गोद से उठाना चाहा कि सहसा देवप्रिया ने सरोष स्वर में कहा—ख़बरदार, इसे मत छूना, नही तो कान पकड़कर उखाड़ लूँगी।

बालक उलटे पाँव लौट आया, और कोठे की छत पर जाकर ख़ूब रोया। कितना सुंदर बच्चा है! मैं उसे गोद मे लेकर बैठता, तो कैसा मज़ा आता! मैं उसे गिराता थोड़े ही, फिर इन्होंने मुझे झिड़क क्यों दिया? भोला बालक क्या जानता

था कि इस झिड़की का कारण माता की सावधानी नही, कुछ और है।

शिशु का नाम ज्ञानप्रकाश रक्खा गया था। एक दिन वह सो रहा था। देवप्रिया स्नानागार मे थी। सत्यप्रकाश चुपके से आया, और बच्चे का ओढ़ना हटाकर उसे अनुरागमय नेत्रों से देखने लगा। उसका जी कितना चाहा कि उसे गोद मे लेकर प्यार करूँ; पर डर के मारे उसने उसे उठाया नही, केवल उसके कपोलों को चूमने लगा। इतने मे देवप्रिया निकल आई। सत्यप्रकाश को बच्चे को चूमते देखकर आग हो गई। दूर हो से डाँटा—हट जा वहाँ से!

सत्यप्रकाश दीन नेत्रों से माता को देखता हुआ बाहर निकल आया।

सध्या-समय उसके पिता ने पूछा—तुम लल्ला को क्यों रुलाया करते हो?

सत्य०—मै तो उसे कभी नही रुलाता। अम्मा खेलाने को नही देती।

देव०—झूठ बोलते हो, आज तुमने बच्चे को चुटकी काटी।

सत्य०—जी नहीं, मै तो उसको मुच्छियाँ ले रहा था।

देव०—झूठ बोलता है!

सत्य०—मैं झूठ नही बालता।

देवप्रकाश का क्रोध आ गया। लड़के को दो-तीन तमाचे लगाए। पहली बार यह ताड़ना मिली, और निपराध! इसने उसके जीवन की काया-पलट कर दी।

(४)

उस दिन से सत्यप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र परिवर्तन दिखाई देने लगा। वह घर मे बहुत कम आता; पिता आते, तो उनसे मुँह छिपाता फिरता। कोई खाना खाने को बुलाने आता, तो चोरों की भाँति दबकता हुआ जाकर खा लेता; न कुछ माँगता, न कुछ बोलता। पहले अत्यंत कुशाग्रबुद्धि था। उसकी सफाई, सलीके और फुरती पर लोग मुग्ध हो जाते थे। अब वह पढ़ने से जी चुराता, मैले-कुचैले कपड़े पहने रहता। घर मे कोई प्रेम करनेवाला न था! बाज़ार के लड़कों के साथ गली-गली घूमता, कनकौवे लूटता। गालियाँ बकना भी सीख गया। शरीर दुर्बल हो गया। चेहरे की कांति ग़ायब हो गई। देवप्रकाश को अब आए दिन उसकी शरारतों के उलहने मिलने लगे, और सत्यप्रकाश नित्य घुड़कियाँ और तमाचे खाने लगा, यहाँ तक कि अगर वह कभी घर मे किसी काम से चला जाता, तो सब लोग दूर-दूर कहकर दौड़ते।

ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिये मास्टर आता था। देवप्रकाश उसे रोज़ सैर कराने साथ ले जाते। हँसमुख लड़का था। देव-प्रिया उसे सत्यप्रकाश के साए से भी बचाती रहती थी। दोनो लड़को मे कितना अंतर था! एक साफ-सुथरा, सुंदर कपड़े पहने, शील और विनय का पुतला, सच बोलनेवाला; देखने-वालों के मुँह से अनायास ही दुआ निकल आती थी। दूसरा मैला, नटखट, चोरों की तरह मुँह छिपाए हुए, मुँहफट, बात-

बात पर गालियाँ बकनेवाला। एक हरा-भरा पौधा, प्रेम मे प्लावित, स्नेह से सिंचित; दूसरा सूखा हुआ, टेढ़ा, पल्लवहीन नववृक्ष, जिसकी जड़ों को एक मुद्दत से पानी नही नसीब हुआ। एक को देखकर पिता की छाती ठंडी होती; दूसरे को देखकर देह मे आग लग जाती।

आश्चर्य यह था कि सत्यप्रकाश को अपने छोटे भाई से लेश-मात्र भी ईर्ष्या न थी। अगर उसके हृदय मे कोई कोमल भाव शेष रह गया था, तो वह ज्ञानप्रकाश के प्रति स्नेह था। उस मरुभूमि मे यही एक हरियाली थी। ईर्ष्या साम्य-भाव की द्योतक है। सत्यप्रकाश अपने भाई को अपने से कही ऊंचा, कही भाग्यशाली समझता। उसमे ईर्ष्या का भाव ही लोप हो गया था।

घृणा से घृणा उत्पन्न होती है; प्रेम से प्रेम। ज्ञानप्रकाश भी बड़े भाई को चाहता था। कभी-कभी उसका पक्ष लेकर अपनी मा से वाद-विवाद कर बैठता। कहता—भैया की अचकन फट गई है, आप नई अचकन क्यों नही बनवा देती? मा उत्तर देती—उसके लिये वही अचकन अच्छी है। अभी क्या, अभी तो वह नंगा फिरेगा। ज्ञानप्रकाश बहुत चाहता था कि अपने जेब-खर्च से बचाकर कुछ अपने भाई को दे, पर सत्य-प्रकाश कभी इसे स्वीकार न करता। वास्तव में जितनी देर वह छोटे भाई के साथ रहता, उतनी देर उसे एक शांतिमय आनंद का अनुभव होता। थोड़ी देर के लिये वह सद्भावों के

साम्राज्य मे विचरने लगता। उसके मुख से कोई भद्दी और अप्रिय बात न निकलती। एक क्षण के लिये उसकी सोई हुई आत्मा जाग उठती।

एक बार कई दिन तक सत्यप्रकाश मदरसे न गया। पिता ने पूछा—तुम आजकल पढ़ने क्यो नही जाते? क्या सोच रक्खा है कि मैने तुम्हारी जिंदगी-भर का ठेका ले रक्खा है?

सत्य०—मेरे ऊपर जुर्माने और फीस के कई रुपए हो गए हैं। जाता हूँ, तो दरजे से निकाल दिया जाता हूँ।

देव०—फीस क्यो बाकी है? तुम तो महीने-महीने ले लिया करते हो न?

सत्य०—आए दिन चंदे लगा करते हैं। फीस के रुपए चंदे मे दे दिए।

देव०—और जुर्माना क्यो हुआ?

सत्य०—फीस न देने के कारण।

देव०—तुमने चंदा क्यो दिया?

सत्य०—ज्ञानू ने चंदा दिया, तो मैंने भी दिया।

देव०—तुम ज्ञानू से जलते हो?

सत्य०—मैं ज्ञानू से क्यो जलने लगा। यहाँ हम और वह दो हैं, बाहर हम और वह एक समझे जाते हैं। मै यह नहीं कहना चाहता कि मेरे पास कुछ नही है।

देव०—क्यों, यह कहते शर्म आती है?

सत्य०—जी हाँ, आपकी बदनामी होगी।

देव०—अच्छा, तो आप मेरी मान-रक्षा करते हैं ! यह क्यों नही कहते कि पढ़ना अब मंजूर नही । मेरे पास इतना रुपया नहीं कि तुम्हे एक-एक क्लास में तीन-तीन साल पढ़ाऊँ; ऊपर से तुम्हारे खर्च के लिये भी प्रतिमास कुछ दूँ । ज्ञान बाबू तुमसे कितना छोटा है, लेकिन तुमसे एक ही दफा नीचे है । तुम इस साल जरूर ही फेल होओगे; वह ज़रूर ही पास होगा । अगले साल तुम्हारे साथ हो जायगा । तब तो तुम्हारे मुँह मे कालिख लगेगी न ।

सत्य०—विद्या मेरे भाग्य ही मे नही है ।

देव०—तुम्हारे भाग्य मे क्या है ?

सत्य०—भीख माँगना ।

देव०—तो फिर भीख ही माँगो । मेरे घर से निकल जाओ ।

देवप्रिया भी आ गई । बोली—शरमाता तो नहीं, और बातों का जवाब देता है ।

सत्य०—जिनके भाग्य मे भीख माँगना होता है, वे ही बच-पन मे अनाथ हो जाते हैं ।

देवप्रिया—ये जली-कटी बाते अब मुझसे न सही जायँगी । मैं खून का घूँट पी-पीकर रह जाती हूँ ।

देवप्रकाश—बेहया है । कल से इसका नाम कटवा दूँगा । भीख माँगनी है, तो भीख ही माँगो ।

(५)

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने घर से निकलने की तैयारी कर दी

उसकी उम्र अब १६ साल की हो गई थी। इतनी बाते सुनने के बाद उसे उस घर मे रहना असह्य हो मया था। जब तक हाथ-पाँव न थे, किशोरावस्था की असमर्थता थी, तब तक अवहेलना, निरादर, निठुरता, भर्त्सना सब कुछ सहकर घर मे रहता रहा। अब हाथ-पाँव हो गए थें, उस बंधन मे क्यों रहता! आत्माभिमान, आशा की भाँति, चिरजीवी होता है।

गर्मी के दिन थे। दोपहर का समय। घर के सब प्राणी सो रहे थें। सत्यप्रकाश ने अपनी धोती बग़ल में दबाई, एक छोटा-सा बैग हाथ में लिया और चाहता था कि चुपके से बैठक से निकल जाय कि ज्ञानू आ गया, और उसे जाने को तैयार देखकर बोला—कहाँ जाते हो, भैया?

सत्य०—जाता हूँ, कही नौकरी करूँगा।

ज्ञान०—मैं जाकर अम्मा से कहे देता हूँ।

सत्य०—तो फिर मैं तुमसे भी छिपाकर चला जाऊँगा।

ज्ञान०—क्यों चले जाओगे? तुम्हें मेरी ज़रा भी मुहब्बत नही?

सत्यप्रकाश ने भाई को गले लगाकर कहा—तुम्हे छोड़कर जाने को जी तो नही चाहता, लेकिन जहाँ कोई पूछनेवाला नहीं है, वहाँ पड़े रहना बेहयाई है। कही दस-पाँच की नौकरी कर लूँगा, और पेट पालता रहूँगा; और किस लायक हूँ?

ज्ञान०—तुमसे अम्मा क्यो इतना चिढ़ती हैं? मुझे तुमसे मिलने को मना किया करती हैं।

सत्य०—मेरे नसीब खोटे हैं, और क्या।

ज्ञान०—तुम लिखने-पढ़ने मे जो नही लगाते?

सत्य०—लगता ही नही, कैसे लगाऊँ? जब कोई परवा नहीं करता, तो मैं भी सोचता हूँ—उँह, यही न होगा, ठोकर खाऊँगा। बला से!

ज्ञान०—मुझे भूल तो न जाओगे? मैं तुम्हारे पास ख़त लिखा करूँगा। मुझे भी एक बार अपने यहाँ बुलाना।

सत्य०—तुम्हारे स्कूल के पते से चिट्ठी लिखूँगा।

ज्ञान०—(रोते-रोते) मुझे न-जाने क्यों तुम्हारी बड़ी मुहब्बत लगती है।

सत्य०—मै तुम्हे सदैव याद रक्खूँगा।

यह कहकर उसने फिर भाई को गले से लगाया, और घर से निकल पड़ा। पास एक कौड़ी भी न थी, और वह कलकत्ते जा रहा था।

(६)

सत्यप्रकाश कलकत्ते क्योंकर पहुँचा, इसका वृत्तांत लिखना व्यर्थ है। युवकों मे दुस्साहस को मात्रा अधिक होती है। वे हवा मे क़िले बना सकते हैं—धरती पर नाव चला सकते हैं। कठिनाइयों को उन्हें कुछ परवा नहीं होती। अपने ऊपर असीम विश्वास होता है। कलकत्ते पहुँचना ऐसा कष्ट-साध्य न था। सत्यप्रकाश चतुर युवक था। पहले ही उसने निश्चय कर लिया था कि कलकत्ते में क्या करूँगा, कहाँ रहूँगा। उसके बैग में

लिखने की सामग्री मौजूद थी। बड़े शहरों में जीविका का प्रश्न कठिन भी है, और सरल भी। सरल है उनके लिये, जो हाथ से काम कर सकते हैं; कठिन है उनके लिये, जो क़लम से काम करते है। सत्यप्रकाश मज़दूरी करना नीच समझता था। उसने एक धर्मशाला मे असबाब रक्खा। बाद में शहर के मुख्य-मुख्य स्थानों का निरीक्षण कर एक डाकघर के सामने लिखने का सामान लेकर बैठ गया, और अपढ़ मज़दूरों की चिट्ठियाँ, मनीऑर्डर आदि लिखने का व्यवसाय करने लगा। पहले कई दिन तो उसको इतने पैसे भी न मिले कि भरपेट भोजन करता, लेकिन धीरे-धीरे आमदनी बढ़ने लगी। वह मज़दूरों से इतने विनय के साथ बातें करता और उनके समाचार इतने विस्तार से लिखता कि बस, वे पत्र को सुनकर बहुत प्रसन्न होते। अशिक्षित लोग एक ही बात को दो-दो, तीन-तीन बार लिखते हैं। उनकी दशा ठीक रोगियों की-सी होती है, जो वैद्य से अपनी व्यथा और वेदना का वृत्तांत कहते नही थकते। सत्य-प्रकाश सूत्र को व्याख्या का रूप देकर मज़दूरों को मुग्ध कर देता था। एक संतुष्ट होकर जाता, तो अपने कई अन्य भाइयों को खोज लाता। एक ही महीने मे उसे १) रोज मिलने लगा। उसने धर्मशाला से निकलकर शहर से बाहर ५) महीने पर एक छोटी-सी कोठरी ले ली। एक जून बनाता, दोनो जून खाता। बर्तन अपने हाथों से धोता। ज़मीन पर सोता। उसे अपने निर्वासन पर ज़रा भी खेद और दुःख न था। घर के लोगों की कभी

याद न आती। वह अपनी दशा पर संतुष्ट था। केवल ज्ञान-प्रकाश की प्रेम-युक्त बातें न भूलतीं। अंधकार मे यही एक प्रकाश था। बिदाई का अंतिम दृश्य आँखों के सामने फिर करता। जीविका से निश्चित होकर उसने ज्ञानप्रकाश को एक पत्र लिखा। उत्तर आया। उसक आनंद की सीमा न रही। ज्ञानू मुझे याद करके रोता है, मेरे पास आना चाहता है, स्वास्थ्य भी अच्छा नही है। प्यासे को पानी से जो तृप्ति होती है, वही तृप्ति इस पत्र से सत्यप्रकाश को हुई। मै अकेला नहीं हूँ, कोई मुझे भी चाहता है—मुझे भी याद करता है !

उस दिन से सत्यप्रकाश को यह चिता हुई कि ज्ञानू के लिये कोई उपहार भेजूँ। युवकों को मित्र बहुत जल्द मिल जाते हैं। सत्यप्रकाश की भी कई युवकों से मित्रता हो गई थी। उनके साथ कई बार सिनेमा देखने गया। कई बार बूटी-भंग, शराब-क़बाब की भी ठहरी। आइना, तेल, कंघी का शौक़ भी पैदा हुआ। जो कुछ पाता, उड़ा देता ; बड़े वेग से नैतिक पतन और शारीरिक विनाश की ओर दौड़ा चला जाता था। इस प्रेम-पत्र ने उसके पैर पकड़ लिए। उपहार के प्रयास ने इन दुर्व्यसनों को तिरोहित करना शुरू किया। सिनेमा का चसका छूटा। मित्रों को हीले-हवाले करके टालने लगा। भोजन भी रूखा-सूखा करने लगा। धन-संचय को चिता ने सारी इच्छाओं को परास्त कर दिया। उसने निश्चय किया कि एक अच्छी-सी घड़ी भेजूँ। उसका दाम कम-से-कम ४०) होगा। अगर तीन महीने

तक एक कौड़ी का भी अपव्यय न करूँ, तो घड़ी मिल सकती है। ज्ञानू घड़ी देखकर कैसा खुश होगा। अम्मा और बाबूजी भी देखेंगे। उन्हे मालूम हो जायगा कि मैं भूखों नही मर रहा हूँ। किफायत की धुन मे वह बहुधा दिया-बत्ती भी न करता। बड़े सबेरे काम करने चला जाता और सारे दिन दो-चार पैसे की मिठाई खाकर काम करता रहता। उसके ग्राहकों की संख्या दिन-दूनी होती जाती थी। चिट्ठी-पत्री के अतिरिक्त अब उसने तार लिखने का भी अभ्यास कर लिया था। दो ही महीनों में उसके पास ५०) एकत्र हो गए; और जब घड़ी के साथ सुनहरी चेन का पारसल बनाकर ज्ञानू के नाम भेज दिया, तो उसका चित्त इतना उत्साहित था, मानो किसी निस्संतान के बालक हुआ हो।

(७)

'घर' कितनी ही कोमल, पवित्र, मनोहर स्मृतियों को जाग्रत कर देता है! यह प्रेम का निवास-स्थान है। प्रेम ने बहुत तपस्या करके यह वरदान पाया है।

किशोरावस्था में 'घर' माता-पिता, भाई-बहन, सखी-सहेली के प्रेम की याद दिलाता है; प्रौढ़ावस्था में गृहिणी और बाल-बच्चों के प्रेम की। यही वह लहर है, जो मानव-जीवन-मात्र को स्थिर रखती है, उसे समुद्र की वेगवती लहरों मे बहने और चट्टानों से टकराने से बचाती है। यही वह मंडप है, जो जीवन को समस्त विघ्न-बाधाओं से सुरक्षित रखता है।

सत्यप्रकाश का 'घर' कहाँ था ? वह कौन-सी शक्ति थी, जो कलकत्ते के विराट् प्रलोभनों से उसकी रक्षा करती थी ?—माता का प्रेम, पिता का स्नेह, बाल-बच्चों की चिंता ?—नहीं, उसका रक्षक, उद्धारक, उसका परितोषक केवल ज्ञानप्रकाश का स्नेह था। उसी के निमित्त वह एक-एक पैसे की किफायत करता। उसी के लिये वह कठिन परिश्रम करता—धनोपार्जन के नए-नए उपाय सोचता। उसे ज्ञानप्रकाश के पत्रों से मालूम हुआ था कि इन दिनों देवप्रकाश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं। वह एक घर बनवा रहे हैं, जिसमे व्यय अनुमान से अधिक हो जाने के कारण ऋण लेना पड़ा है; इसलिये अब ज्ञानप्रकाश का पढ़ाने के लिये घर पर मास्टर नही आता। तब से सत्यप्रकाश प्रतिमास ज्ञानू के पास कुछ-न-कुछ अवश्य भेज देता था। वह अब केवल पत्र-लेखक न था, लिखने के सामान को एक छोटी-सी दूकान भी उसने खोल ली थी। इससे अच्छी आमदनी हो जाती थी। इस तरह पाँच वर्ष बीत गए। रसिक मित्रों ने जब देखा कि अब यह हत्थे नही चढ़ता, तो उसके पास आना-जाना छोड़ दिया।

(८)

संध्या का समय था। देवप्रकाश अपने मकान में बैठे देवप्रिया से ज्ञानप्रकाश के विवाह के संबंध मे बातें कर रहे थे। ज्ञानू अब १७ वर्ष का सुंदरयुवक था। बाल-विवाह के विरोधी होने पर भी देवप्रकाश अब इस शुभ-मुहूर्त को न टाल सकते

थे, विशेषतः जब कोई महाशय ५,०००) दायज देने को प्रस्तुत हों।

देवप्रकाश—मैं तो तैयार हूँ, लेकिन तुम्हारा लड़का भी तो तैयार हो।

देवप्रिया—तुम बातचीत पक्की कर लो, वह तैयार हो ही जायगा। सभी लड़के पहले 'नहीं' करते हैं।

देवप्रकाश—ज्ञानू का इनकार केवल संकोच का इनकार नहीं है, वह सिद्धांत का इनकार है। वह साफ़-साफ कह रहा है कि जब तक भैया का विवाह न होगा, मै अपना विवाह करने पर राज़ी नही हूँ।

देवप्रिया—उसकी कौन चलाए, वहाँ कोई रखैल रख ली होगी, विवाह क्यों करेगा? वहाँ कोई देखने जाता है?

देवप्रकाश—(झुँझलाकर) रखैल रख ली होती, तो तुम्हारे लड़के को ४०) महीने न भेजता, और न वे चीजे ही देता, जिन्हे पहले महीने से अब तक बराबर देता चला आता है। न-जाने क्यों तुम्हारा मन उसकी ओर से इतना मैला हो गया है! चाहे वह जान निकालकर भी दे दे, लेकिन तुम न पसीजोगी।

देवप्रिया नाराज होकर चली गई। देवप्रकाश उससे यही कहलाया चाहते थे कि पहले सत्यप्रकाश का विवाह करना उचित है, किंतु वह कभी इस प्रसंग को आने ही न देती थी। स्वयं देवप्रकाश की यह हार्दिक इच्छा थी कि पहले बड़े लड़के का विवाह करे, पर उन्होंने भी आज तक सत्यप्रकाश

को कोई पत्र न लिखा था। देवप्रिया के चले जाने के बाद उन्होंने आज पहली बार सत्यप्रकाश को पत्र लिखा। पहले इतने दिनों तक चुपचाप रहने के लिये क्षमा माँगी, तब उसे एक बार घर आने का प्रेमाग्रह किया। लिखा, अब मैं कुछ ही दिनों का मेहमान हूँ। मेरी अभिलाषा है, तुम्हारा और तुम्हारे छोटे भाई का विवाह देख लूँ। मुझे बहुत दुःख होगा, यदि तुम यह विनय स्वीकार न करोगे। ज्ञानप्रकाश के असमंजस की बात भी लिखी। अंत में इस बात पर जोर दिया कि किसी और विचार से नहीं, तो ज्ञानू के प्रेम के नाते ही तुम्हें इस बंधन में पड़ना होगा।

सत्यप्रकाश को यह पत्र मिला, तो उसे बहुत खेद हुआ। मेरे भ्रातृस्नेह का यह परिणाम होगा, मुझे न मालूम था। इसके साथ ही उसे यह ईर्ष्यामय आनंद हुआ कि अम्मा और दादा को अब तो कुछ मानसिक पीड़ा होगी। मेरी उन्हें क्या चिंता थी? मैं मर भी जाऊँ, तो भी उनकी आँखों में आँसू न आवें। ७ वर्ष हो गए, कभी भूलकर भी पत्र न लिखा कि मरा है, या जीता है। अब कुछ चेतावनी मिलेगी। ज्ञानप्रकाश अंत में विवाह करने पर राज़ी तो हो ही जायगा, लेकिन सहज में नहीं। कुछ न हो, तो मुझे तो एक बार अपने इनकार के कारण लिखने का अवसर मिला। ज्ञानू को मुझसे प्रेम है, लेकिन उसके कारण मैं पारिवारिक अन्याय का दोषी न बनूँगा। हमारा पारिवारिक जीवन संपूर्णतः अन्यायमय है। यह कुमति और वैमनस्य, क्रूरता

और नृशंसता का बोजारोपण करता है। इसो माया मे फँसकर मनुष्य अपनी प्यारो संतान का शत्रु हो जाता है। ना, मैं आँखों देखकर यह मक्खो न निगलूँगा। मैं ज्ञानू को समझाऊँगा अवश्य। मेरे पास जो कुछ जमा है, वह सब उसके विवाह के निमित्त अर्पण भो कर दूँगा। बस, इससे ज्यादा मै और कुछ नही कर सकता। अगर ज्ञानू भो अविवाहित हो रहे, तो संसार कौन सूना हो जायगा? ऐसे पिता का पुत्र क्या वंशपरंपरा का पालन न करेगा? क्या उसके जोवन मे फिर वहो अभिनय न दुहराया जायगा, जिसने मेरा सर्वनाश कर दिया?

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने ५००) पिता के पास भेजे, और पत्र का उत्तर लिखा कि मेरा अहोभाग्य, जो आपने मुझे याद किया। ज्ञानू का विवाह निश्चित हो गया, इसकी बधाई! इन रुपयो से नववधू के लिये कोई आभूषण बनवा दीजिएगा। रही मेरे विवाह की बात। सो मैंने अपनी आँखों से जो कुछ देखा और मेरे सिर पर जो कुछ बोतो है, उस पर ध्यान देते हुए यदि मैं कुटुब-पाश मे फँसूं, ता मुझसे बड़ा उल्लू संसार मे न होगा। आशा है, आप मुझे क्षमा करेंगे। विवाह की चर्चा हो से मेरे हृदय को आघात पहुँचता है।

दूसरा पत्र ज्ञानप्रकाश को लिखा कि माता-पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करो। मैं अपढ़, मूर्ख, बुद्धि-हीन आदमी हूँ; मुझे विवाह करने का कोई अधिकार नहीं है। खेद है, मैं तुम्हारे विवाह के शुभोत्सव मे सम्मिलित न हो सकूँगा, लेकिन

मेरे लिये इससे बढ़कर आनंद और संतोष का विषय नहीं हो सकता।

(६)

देवप्रकाश यह पढ़कर अवाक् रह गए। फिर आग्रह करने का साहस न हुआ। देवप्रिया ने नाक सिकोड़कर कहा—यह लौंडा देखन ही को सीधा है, है जहर का बुझाया हुआ! सौ कोस पर बैठा हुआ बरछियों से कैसा छेद रहा है।

किंतु ज्ञानप्रकाश ने यह पत्र पढ़ा, तो उसे मर्माघात पहुँचा। दादा और अम्मा के अन्याय ने ही उन्हें यह भीषण व्रत धारण करने पर बाध्य किया है। इन्ही ने उन्हे निर्वासित किया है, और शायद सदा के लिये। न-जाने अम्मा को उनसे क्यों इतनी जलन हुई। मुझे तो अब याद आता है कि किशोरावस्था ही से वह बड़े आज्ञाकारी, विनयशील और गंभीर थे। उन्हें अम्मा की बातों का जवाब देते नही सुना। मैं अच्छे-से-अच्छा खाता था, फिर भी उनके तेवर मैले न हुए, हालाँकि उन्हें जलना चाहिए था। ऐसी दशा मे अगर उन्हें गार्हस्थ्य जीवन से घृणा हो गई, तो आश्चर्य ही क्या? फिर मैं क्यों इस विपत्ति में फँसूँ? कौन जाने, मुझे भी ऐसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़े। भैया ने बहुत सोच-समझकर यह धारणा की है।

संध्या-समय जब उसके माता-पिता बैठे हुए इसी समस्या पर विचार कर रहे थे, ज्ञानप्रकाश ने आकर कहा—मैं कल भैया से मिलने जाऊँगा।

देवप्रिया—क्या कलकत्ते जाओगे ?

ज्ञान०—जी हाँ।

देवप्रिया—उन्ही को क्यों नहीं बुलाते ?

ज्ञान०—उन्हे कौन मुँह लेकर बुलाऊँ ? आप लोगों ने तो पहले ही मेरे मुँह मे कालिख लगा दी है। ऐसा देव-पुरुष आप लोगों के कारण विदेश में ठोकर खा रहा है, और मैं इतना निर्लज्ज हो जाऊँ कि . ...

देवप्रिया—अच्छा चुप रह, नही ब्याह करना है, न कर, जले पर लोन मत छिड़क ! माता-पिता का धर्म है, इसलिये कहती हूँ, नही तो यहाँ ठेंगे को परवा नहीं है। तू चाहे ब्याह कर, चाहे क्वाँरा रह ; पर मेरी आँखों से दूर हो जा।

ज्ञान०—क्या मेरी सूरत से भी घृणा हो गई ?

देवप्रिया—जब तू हमारे कहने ही मे नही, तो जहाँ चाहे रह। हम भी समझ लेंगे कि भगवान् ने लड़का ही नही दिया।

देव०—क्यों व्यर्थ ऐसे कटु वचन बोलती हो ?

ज्ञान०—अगर आप लोगों की यही इच्छा है, तो यही होगा।

देवप्रकाश ने देखा कि बात का बतंगड़ हुआ चाहता है, तो ज्ञानप्रकाश को इशारे से टाल दिया, और पत्नी के क्रोध को शांत करने की चेष्टा करने लगे। मगर देवप्रिया फूट-फूटकर रो रही थी, बार-बार कहती थी—मैं इसकी सूरत न देखूँगी। अंत मे देवप्रकाश ने चिढ़कर कहा—तो तुम्ही ने तो कटु वचन कहकर उसे उत्तेजित कर दिया।

देवप्रिया—यह सब विष उसी चांडाल ने बोया है, जो यहाँ से सात समुद्र-पार बैठा हुआ मुझे मिट्टी मे मिलाने का उपाय कर रहा है। मेरे बेटे को मुझसे छीनने ही के लिये उसने यह प्रेम का स्वाँग भरा है। मैं उसकी नस नस पहचानती हूँ। उसका यह मंत्र मेरी जान लेकर छोड़ेगा; नहीं तो मेरा ज्ञानू, जिसने कभी मेरी बात का जवाब नहीं दिया, यों मुझे न जलाता।

देव०—अरे, तो क्या वह विवाह ही न करेगा! अभी गुस्से में अनाप-शनाप बक गया है। जरा शांत हो जायगा, तो मैं समझाकर राजी कर दूँगा।

देवप्रिया—मेरे हाथ से निकल गया।

देवप्रिया की आशंका सत्य निकली। देवप्रकाश ने बेटे को बहुत समझाया। कहा—तुम्हारी माता इस शोक मे मर जायगी; किंतु कुछ असर न हुआ। उसने एक बार 'नही' कहकर 'हाँ' न की। निदान वह भी निराश होकर बैठ रहे।

तीन साल तक प्रतिवर्ष विवाह के दिनों में यह प्रश्न उठता रहा, पर ज्ञानप्रकाश अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा। माता का रोना-धोना निष्फल हुआ। हाँ, उसने माता की एक बात मान ली—वह भाई से मिलने कलकत्ते न गया।

तीन साल मे घर मे बड़ा परिवर्तन हो गया। देवप्रिया की तीनो कन्याओं का विवाह हो गया। अब घर मे उसके सिवा कोई स्त्री न थी। सूना घर उसे खाए लेता। जब वह नैराश्य और क्रोध से व्याकुल हो जाती, तो सत्यप्रकाश को खूब जी-

भरकर कोसती। मगर दोनो भाइयों मे प्रेम-पत्र-व्यवहार बराबर होता रहता था।

देवप्रकाश के स्वभाव मे एक विचित्र उदासीनता प्रकट होने लगी। उन्होंने पेंशन ले ली थी, और प्राय धर्म-ग्रंथों का अध्ययन किया करते थे। ज्ञानप्रकाश ने भी 'आचार्य' की उपाधि प्राप्त कर ली थी, और एक विद्यालय मे अध्यापक हो गए थे। देवप्रिया अब संसार मे अकेली थी।

देवप्रिया अपने पुत्र को गृहस्थी की ओर खींचने के लिये नित्य टोने-टोटके किया करती। बिरादरी मे कौन-सी कन्या सुंदर है, गुणवती है, सुशिक्षिता है—उसका बखान किया करती, पर ज्ञानप्रकाश को इन बातों के सुनने की भी फुरसत न थी।

मोहल्ले के और घरों मे नित्य ही विवाह होते रहते थे। बहुएँ आती थीं, उनकी गोद मे बच्चे खेलने लगते थे, घर गुलजार हो जाता था। कही विदाई होती थी, कही बधाइयाँ आती थीं, कही गाना-बजाना होता था, कही बाजे बजते थे। यह चहल पहल देखकर देवप्रिया का चित्त चंचल हो जाता। उसे मालूम होता, मै ही संसार मे सबसे अभागिनी हूँ। मेरे ही भाग्य मे यह सुख भोगना नही बदा है। भगवान् ऐसा भी कोई दिन आवेगा कि मै अपनी बहू का मुख चंद्र देखूँगी, बालकों को गोद मे खिलाऊँगी। वह भी कोई दिन होगा कि मेरे घर मे भी आनंदोत्सव के मधुर गान की तानें उठेंगी! रात-दिन ये ही बातें सोचते-सोचते देवप्रिया की दशा उन्मादिनी की-सी हो गई।

आप-ही-आप सत्यप्रकाश को कोसने लगती—वही मेरे प्राणों का घातक है। तल्लीनता उन्माद का प्रधान गुण है। तल्लीनता अत्यंत रचनाशील होती है। वह आकाश मे देवताओं के विमान उड़ाने लगती है। अगर भोजन मे नमक तेज़ हो गया, तो यह शत्रु ने कोई रोड़ा रख दिया होगा। देवप्रिया को अब कभी-कभी धोखा हो जाता कि सत्यप्रकाश घर मे आ गया है, वह मुझे मारना चाहता है, ज्ञानप्रकाश को विष खिलाए देता है। एक दिन उसने सत्यप्रकाश के नाम एक पत्र लिखा, और उसमे जितना कोसते बना, कोसा—तू मेरे प्राणो का वैरी है, मेरे कुल का घातक है, हत्यारा है। वह कौन दिन आवेगा कि तेरी मिट्टी उठेगी। तूने मेरे लड़के पर वशीकरण-मंत्र चला दिया है। दूसरे दिन फिर ऐसा ही एक पत्र लिखा, यहाँ तक-कि यह उसका नित्य का कर्म हो गया। जब तक एक चिट्ठी मे सत्यप्रकाश को गालियाँ न दे लेती, उसे चैन ही न आता! इन पत्रो को वह कहारिन के हाथ डाकवर भिजवा दिया करती थी।

(१०)

ज्ञानप्रकाश का अध्यापक होना सत्यप्रकाश के लिये घातक हो गया। परदेश मे उसे यही संतोष था कि मै संसार मे निराधार नहीं हूँ। अब यह अवलंब जाता रहा। ज्ञानप्रकाश ने ज़ोर देकर लिखा—अब आप मेरे हेतु कोई कष्ट न उठावें। मुझे अपनी गुज़र करने के लिये काफ़ी से ज्यादा मिलने लगा है।

यद्यपि सत्यप्रकाश की दूकान ख़ूब चलती थी, लेकिन कल-

कत्ते-जैसे शहर में एक छोटे-से दूकानदार का जीवन बहुत सुखी नहीं होता। ६०)-७०) की मासिक आमदनी होती ही क्या है? अब तक वह जो कुछ बचाता था, वह वास्तव में बचत न थी, बल्कि त्याग था। एक वक्त रूखा-सूखा खाकर, एक तंग आर्द्र कोठरी मे रहकर २५)-३०) बच रहते थे। अब दोनो वक्त भोजन मिलने लगा। कपड़े भी जरा साफ पहनने लगा। मगर थोड़े ही दिनों मे उसके खर्च मे औषधियों की एक मद बढ़ गई। फिर वही पहले की सी दशा हो गई। बरसो तक शुद्ध वायु, प्रकाश और पुष्टिकर भोजन से वंचित रहकर अच्छे-से-अच्छा स्वास्थ्य भी नष्ट हो सकता है। सत्यप्रकाश को अरुचि, मंदाग्नि आदि रोगो ने आ घेरा। कभी-कभी ज्वर भी आ जाता। युवावस्था मे आत्मविश्वास होता है। किसी अवलंब की परवा नहीं होती। वयोवृद्धि दूसरों का मुँह ताकती है, कोई आश्रय ढूढ़ती है। सत्यप्रकाश पहले सोता, तो एक ही करवट मे सवेरा हो जाता। कभी बाजार से पूरियाँ लेकर खा लेता, कभी मिठाई पर टाल देता। पर अब रात को अच्छी तरह नींद न आती, बाजारू भोजन से घृणा होती, रात को घर आता, तो थककर चूर-चूर हो जाता। उस वक्त चूल्हा जलाना, भोजन पकाना बहुत अखरता। कभी-कभी वह अपने अकेलेपन पर रोता। रात को जब किसी तरह नींद न आती, तो उसका मन किसी से बाते करने को लालायित होने लगता। पर वहाँ निशांधकार के सिवा और कौन था? दीवालों के कान चाहे हो, मुँह नही

होता। इधर ज्ञानप्रकाश के पत्र भी अब कम आते थे, और वे भी रूखे। उनमें अब हृदय के सरल उद्‌गारों का लेश भी न रहता। सत्यप्रकाश अब भी वैसे ही भावमय पत्र लिखता था; पर एक अध्यापक के लिये भावुकता कब शोभा देती है? शनैः-शनैः सत्यप्रकाश को भ्रम होने लगा कि ज्ञानप्रकाश भी मुझसे निष्ठुरता करने लगा, नहीं तो क्या मेरे पास दो-चार दिन के लिये आना असंभव था? मेरे लिये तो घर का द्वार बंद है, पर उसे कौन-सी बाधा है? उस ग़रीब को क्या मालूम कि यहाँ ज्ञानप्रकाश ने माता से कलकत्ते न जाने की कसम खा ली है। इस भ्रम ने उसे और भी हताश कर दिया।

शहरों मे मनुष्य बहुत होते हैं, पर मनुष्यता बिरले ही मे होती है। सत्यप्रकाश उस बहु-संख्यक स्थान में भी अकेला था। उसके मन मे अब एक नई आकांक्षा अंकुरित हुई। क्यों न घर लौट चलूँ? किसी संगिनी के प्रेम की क्यों न शरण लूँ? वह सुख और शांति और कहाँ मिल सकती है? मेरे जीवन के निराशांधकार को और कौन ज्योति आलोकित कर सकती है? वह इस आवेश को अपनी संपूर्ण विचार-शक्ति से रोकता, पर जिस भाँति किसी बालक को घर में रक्खी हुई मिठाइयों की याद बार-बार खेल से घर खींच लाती है, उसी तरह उसका चित्त भी बार-बार उन्हीं मधुर चिंताओं में मग्न हो जाता था। वह सोचता—मुझे विधाता ने सब सुख से वंचित कर दिया है, नहीं तो मेरी दशा ऐसी हीन क्यों होती? मुझे ईश्वर ने बुद्धि न दी

थी क्या ? क्या मै श्रम से जी चुराता था ? अगर बालपन ही मे मेरे उत्साह और अभिरुचि पर तुषार न पड़ गया होता, मेरी बुद्धि—शक्तियों का गला न घोट दिया गया होता, तो मैं भी आज आदमी होता, पेट पालने के लिये इस विदेश मे न पड़ा रहता । नही, मैं अपने ऊपर यह अत्याचार न करूँगा ।

महीनों तक सत्यप्रकाश के मन और बुद्धि मे यह संघर्ष होता रहा। एक दिन वह दूकान से आकर चूल्हा जलाने जा रहा था कि डाकिए ने पुकारा । ज्ञानप्रकाश के सिवा उसके पास और किसी के पत्र न आते थे। आज ही उनका पत्र आ चुका था। यह दूसरा पत्र क्यों ? किसी अनिष्ट की आशंका हुई। पत्र लेकर पढ़ने लगा। एक क्षण मे पत्र उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ा, और वह सिर थामकर बैठ गया कि जमीन पर न गिर पड़े। यह देवप्रिया की विष-युक्त लेखनी से निकला हुआ जहर का तीर था, जिसने एक पल मे उसे संज्ञाहीन कर दिया । उसकी सारी मर्मातक व्यथा—क्रोध, नैराश्य, कृतघ्नता, ग्लानि—केवल एक ठंडी साँस मे समाप्त हो गई।

वह जाकर चारपाई पर लेट रहा । मानसिक व्यथा आप-से-आप पानी हो गई । हा ! सारा जीवन नष्ट हो गया ! मैं ज्ञानप्रकाश का शत्रु हूँ ? मैं इतने दिनों से केवल उसके जीवन को मिट्टी मे मिलाने के लिये ही प्रेम का स्वाँग भर रहा हूँ ? भगवन् ! तुम्हीं इसके साक्षी हो !

तीसरे दिन फिर देवप्रिया का पत्र पहुँचा । सत्यप्रकाश ने उसे लेकर फाड़ डाला । पढ़ने की हिम्मत न पड़ी ।

एक ही दिन पीछे तीसरा पत्र पहुँचा। उसका भी वही अंत हुआ। फिर तो यह एक नित्य का कर्म हो गया। पत्र आता और फाड़ दिया जाता। किंतु देवप्रिया का अभिप्राय बिना पढ़े ही पूरा हो जाता था—सत्यप्रकाश के मर्मस्थान पर एक चोट और पड़ जाती थी।

एक महीने की भीषण हार्दिक वेदना के बाद सत्यप्रकाश को जीवन से घृणा हो गई। उसने दूकान बंद कर दी, बाहर आना-जाना छोड़ दिया। सारे दिन खाट पर पड़ा रहता। वे दिन याद आते, जब माता पुचकारकर गोद में बिठा लेतीं, और कहतीं—बेटा! पिता संध्या-समय दफ्तर से आकर गोद में उठा लेते, और कहते—भैया! माता की सजीव मूर्ति उसके सामने आ खड़ी होती, ठीक वैसी ही जब वह गंगा-स्नान करने गई थी। उसकी प्यार-भरी बातें कानों में गूँजने लगतीं। फिर वह दृश्य सामने आता, जब उसने नववधू माता को 'अम्मा' कहकर पुकारा था। तब उसके कठोर शब्द याद आ जाते, उसके क्रोध से भरे हुए विकराल नेत्र आँखों के सामने आ जाते। उसे अपना सिसक-सिसककर रोना याद आ जाता। फिर सौरगृह का दृश्य सामने आता। उसने कितने प्रेम से बच्चे को गोद में लेना चाहा था! तब माता के वज्र के-से शब्द कानों में गूँजने लगते। हाय! उसी वज्र ने मेरा सर्वनाश कर दिया! ऐसी कितनी ही घटनाएँ याद आतीं। कभी बिना किसी अपराध के मा को डाँट बताना, और कभी पिता का निर्दय, निष्ठुर व्यवहार याद आने

लगता। उनका बात-बात पर त्योरियाँ बदलना, माता के मिथ्यापवादो पर विश्वास करना—हाय! मेरा सारा जीवन नष्ट हो गया! तब वह करवट बदल लेता, और फिर वही दृश्य आँखों मे फिरने लगते। फिर करवट बदलता और चिल्ला उठता—इस जीवन का अंत क्यों नहीं हो जाता!

इस भाँति पडे-पडे उसे कई दिन हो गए। संध्या हो गई थी कि सहसा उसे द्वार पर किसी के पुकारने की आवाज सुनाई पड़ी। उसने कान लगाकर सुना और चौंक पड़ा—कोई परिचित आवाज थी। दौड़ा, द्वार पर आया, तो देखा, ज्ञानप्रकाश खड़ा है। कितना रूपवान् पुरुष था! वह उसके गले से लिपट गया। ज्ञानप्रकाश ने उसके पैरों को स्पर्श किया। दोनो भाई घर मे आए। अंधकार छाया हुआ था। घर की यह दशा देखकर ज्ञानप्रकाश, जो अब तक अपने कंठ के आवेग को रोके हुए था, रो पड़ा। सत्यप्रकाश ने लालटेन जलाई। घर क्या था, भूत का डेरा था। सत्यप्रकाश ने जल्दी से एक कुरता गले मे डाल लिया। ज्ञानप्रकाश भाई का जर्जर शरीर, पीला मुख, बुझी हुई आँखे देखता और रोता था।

सत्यप्रकाश—मै आजकल बीमार हूँ।

ज्ञानप्रकाश—यह तो देख ही रहा हूँ।

सत्य०—तुमने अपने आने की सूचना भी न दी, मकान का पता कैसे चला?

ज्ञान०—सूचना तो दी थी, आपको पत्र न मिला होगा।

सत्य०—अच्छा, हाँ दी होगी, पत्र दूकान मे पड़ा होगा। मैं इधर कई दिन से दूकान नहीं गया। घर पर सब कुशल है?

ज्ञान०—माताजी का देहांत हो गया।

सत्य०—अरे! क्या बीमार थी?

ज्ञान०—जी नही। मालूम नही, क्या खा लिया। इधर उन्हें उन्माद-सा हो गया था। पिताजी ने कुछ कटु वचन कहे थे, शायद इसी पर कुछ खा लिया।

सत्य०—पिताजी तो कुशल से हैं?

ज्ञान०—हाँ, अभी मरे नही हैं।

सत्य०—अरे! क्या बहुत बीमार हैं?

ज्ञान०—माता ने विष खा लिया, तो वह उनका मुँह खोल-कर दवा पिला रहे थे। माताजी ने जोर से उनकी दो उँगलियाँ काट लीं। वही विष उनके शरीर मे पहुँच गया। तब से सारा शरीर सूज आया है। अस्पताल मे पड़े हुए हैं, किसी को देखते है, तो काटने दौड़ते है। बचने की आशा नही है।

सत्य०—तब तो घर ही चौपट हो गया!

ज्ञान०—ऐसे घर को अब से बहुत पहले चौपट हो जाना चाहिए था।

❀ ❀ ❀

तीसरे दिन दोनो भाई प्रातःकाल कलकत्ते से बिदा होकर चल दिए।

विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य विविध विषयों की पुस्तकें

गंगा-पुस्तकमाला में अनेकों पुस्तकें विविध विषयों पर प्रकाशित हुई हैं। इस स्थान पर केवल उन चुनी हुई पुस्तकों के नाम दिए जाते हैं, जिनमें से कुछ स्कूल और कुछ कॉलेज की छोटी या बड़ी कक्षाओं में कोर्स हैं, और बाक़ी रक्खी जा सकती हैं। आशा है, शिक्षा-संस्थाएँ इन्हें कोर्स में रखकर हमारा उत्साह बढ़ाएँगी।

१. उपन्यास

जुझार तेजा (सचित्र)—लेखक, मेहता लज्जाराम शर्मा; वीरता-पूर्ण और सत्य घटना-मूलक। .. ... मूल्य ॥), १)

मा (दो भाग)—लेखक, पं० विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'; कौशिकजी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास। मूल्य ३), ४)

रंगभूमि (दो भाग)—लेखक, श्रीयुत प्रेमचंदजी ; युगांतरकारी हिंदी का सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक उपन्यास। बी० ए० में कोर्स। मूल्य ५), ६)

सौ अजान और एक सुजान—लेखक, श्रीयुत पं० बालकृष्ण भट्ट; हिंदी का सबसे पहला अद्वितीय उपन्यास। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में कोर्स। . ... मूल्य १), १॥)

हृदय की प्यास (सचित्र)—लेखक, [illegible]दाचार्य प० चतुर-सेन शास्त्री ; हिंदी में सर्वोत्तम सामाजि[illegible]स। मूल्य १॥), २)

गढ़-कुडार—लेखक, बाबू वृंदावन[illegible] बी० ए०, एल्-एल्० बी० ; हिंदी का सर्वोत्कृष्ट ऐतिहासिक [illegible]। मूल्य २॥), ३)

कैनें—लेखक, श्रीकृष्णानंद गुप्त ; हिंदी का सर्वोत्तम और सबसे पहला 'रोमांस'। ... ... मूल्य १), १॥)

मृत्युंजय—लेखक, श्रीगुलाबरत्न वाजपेयी ; स्फूर्ति, साधना और देश-भक्ति-पूर्ण मौलिक उपन्यास। मूल्य ॥), १)

२. गल्प और कहानियाँ

अद्भुत आलाप—लेखक, हिंदी-महारथी प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ; अत्यंत रोचक और कौतूहल-पूर्ण निबंध। सी० पी० में इंट्रेंस में कोर्स। ... ... मूल्य १), १॥)

नाट्यकथाऽमृत (सचित्र)—लेखक, प्रिंसिपल चंद्रमौलि सुकुल एम्० ए०, एल्० टी० ; कालिदास, भवभूति, श्रीहर्षदेव-जैसे महारथी संस्कृत-आचार्यों के नाटकों की १२ कथाएँ ; बिहार में इंट्रेंस में कोर्स। ... ... मूल्य १), १॥)

प्रेम-प्रसून—लेखक, श्रीप्रेमचंदजी ; चुनी हुई उत्कृष्ट कहानियों का सग्रह। ... ... मूल्य १=), सजिल्द १॥=)

मंजरी (सचित्र)—अनुवादक, पं० रूपनारायणजी पांडेय कविरत्न ; बँगला के लब्ध-प्रतिष्ठ गल्प-लेखकों की सर्वश्रेष्ठ और चमत्कार-पूर्ण, शिक्षा-प्रद गल्पों का अनूठा संग्रह। ... मूल्य १), १॥)

३. नाटक

कृष्णकुमारी (सचित्र)—लेखक, पं० रूपनारायणजी पांडेय कविरत्न ; महाकवि माइकेल मधुसूदनदत्त के सबसे बढ़िया ऐतिहासिक नाटक "कृष्णकुमारी" का अनुवाद। मूल्य १), १॥)

जयद्रथ-वध—लेखक, पं० गोकुलचद्र शर्मा एम्० ए० ; गद्य-पद्यमय वीर-रस-पूर्ण नाटक। बंबई में इंट्रेंस में कोर्स। मूल्य ॥=), १=)

दुर्गावती (सचित्र)—लेखक, पं० बदरीनाथ भट्ट बी० ए० ; वीर-रस-पूर्ण भट्टजी का सर्वश्रेष्ठ नाटक। पंजाब में हिंदी-परीक्षाओं में कोर्स। यू० पी० में एफ़्० ए० में कोर्स। ... मूल्य १), १॥)

पूर्वभारत—लेखक, हिंदी के धुरंधर विद्वान् "मिश्रबंधु"; पांडवों और कौरवों के झगड़े से लेकर अज्ञातवास तक की कथा; मौलिक नाटक; यू० पी० में इंट्रेंस में कोर्स। मूल्य ॥।=), १।=)

प्रबुद्धयामुन—लेखक, मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-विजेता श्रीवियोगी हरि; श्रीब्रह्मचारी यामुनाचार्य का आदर्श-चरित्र। मूल्य १), १॥)

बुद्ध-चरित्र (सचित्र)—अनुवादक, प० रूपनारायण पांडेय कविरत्न; अपनी आध्यात्मिक उन्नति और ससार के उपकार के लिये सांसारिक सुखों को तिलांजलि देकर किस प्रकार महात्मा बुद्धदेव वैराग्य में लीन हुए, इसे बतानेवाला अत्यंत रोचक नाटक; दिल्ली और सी० पी० में इंट्रेंस का कोर्स। द्वितीय संस्करण मूल्य ।॥), १।)

वरमाला (सचित्र)—लेखक, श्रीयुत पं० गोविंदवल्लभ पंत; पौराणिक कथा के आधार पर एक अत्यंत रोचक मौलिक नाटक। हिंदू-विश्वविद्यालय में बी० ए० में कोर्स। मूल्य ॥=), १=)

वेणी-संहार—लेखक, प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी; संस्कृत के एक प्रसिद्ध नाटक की कथा। .. .. मूल्य ॥=), १=)

उत्सर्ग—लेखक, श्रीचतुरसेन शास्त्री; मेवाड़ का महान् औत्सर्गिक चित्र। .. .. मूल्य ।=), ।॥)

४. काव्य

उषा (सचित्र)—लेखक, स्व० श्रीशिवदास गुप्त "कुसुम"; उषा और अनिरुद्ध की कथा मनोहर खंड काव्य में। मूल्य ॥=),१=)

भारत-गीत—लेखक, कवि-सम्राट् स्व० प० श्रीधर पाठक; भारत-संबंधी अत्युत्तम कविताओं का संग्रह। मूल्य ॥।=), १।=)

रति-रानी—लेखक, 'सुहृदत्रय'; पढ़ने योग्य अनोखे ढंग की निराली रचना। ... . .. मूल्य १॥), २।)

५. साहित्य

निबंध-निचय—लेखक, हिंदी के उत्कृष्ट समालोचक पंडित जग-

न्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ; संकलित लेखों और भाषणों का अपूर्व संग्रह। प्रथमा या मध्यमा के लायक। ... मूल्य १), १॥)

विश्व-साहित्य—लेखक, श्रीपदुमलाल-पुन्नालाल बख़्शी बी० ए० ; संसार की सभी उन्नत भाषाओं पर समालोचना। नागपुर-युनिवर्सिटी में बी० ए० में कोर्स। मूल्य १॥), २)

साहित्य-सुमन—लेखक, स्व० पं० बालकृष्ण भट्ट ; साहित्यिक और नीति-संबंधी चुने हुए लेखों का संग्रह। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में प्रथमा में कोर्स था। ... ... मूल्य ॥=), १=)

साहित्य-संदर्भ—लेखक, आचार्य प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ; समालोचनात्मक लेखों का संग्रह। ... मूल्य १॥), २)

सौंदरनंद-महाकाव्य—प्रणेता, अध्यापक रामदीन पांडेय एम्० ए०; महाकवि अश्वघोष-कृत १८ सर्गों के काव्य का कथासार।
... . मूल्य ॥), १)

संभाषण—लेखक, प० दुलारेलालजी भार्गव ; हिंदी-भाषा की उन्नति इधर कैसे हुई, इसका विवेचन। .. मूल्य ।), ॥)

हिंदी—लेखक, लखनऊ-विश्वविद्यालय के हिंदी-लेक्चरार पं० बदरीनाथ भट्ट बी० ए० ; हिंदी-भाषा की उत्पत्ति और उसके विकास पर विद्वत्ता-पूर्ण निबंध। यू० पी० में एफ़्० ए० में कोर्स। मूल्य ॥=), १=)

६. समालोचनाएँ

देव और बिहारी—लेखक, प० कृष्णबिहारी मिश्र बी० ए०, एल्-एल्० बी० ; दोनो कवियों की तुलनात्मक समालोचना। बिलकुल नई चीज़। मूल्य १।।।), २।)

हिंदी-नवरत्न—लेखक, हिंदी-संसार के धुरंधर समालोचक "मिश्र-बंधु", हिंदी-भाषा के सर्वोत्तम ६ कवि-रत्नों के आलोचना-पूर्ण जीवन-चरित्र। परिवर्द्धित, संशोधित और सुसज्जित चतुर्थ संस्करण। लखनऊ-विश्वविद्यालय में बी० ए० में कोर्स। मूल्य ४॥), ५)

७. जीवन-चरित्र

प्राचीन पंडित और कवि—लेखक, आचार्य प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी; आलोचनात्मक चरित्रों का संग्रह। मूल्य ॥=), १।=)

सम्राट् चंद्रगुप्त—लेखक, पं० बालमुकुंद वाजपेयी; भारत के प्रथम ऐतिहासिक सम्राट् की संक्षिप्त, किंतु सर्वांग-पूर्ण जीवनी। मूल्य ।)

सुकवि-संकीर्तन (सचित्र)—लेखक, साहित्य-महारथी पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी; सुकवियों और उनके आश्रयदाताओं के संबंध में लेख; बिहार में एफ़० ए० में कोर्स। मूल्य १।), १॥)

८. इतिहास

इँगलैंड का इतिहास (तीन भाग, सचित्र)—लेखक, डॉ० प्राणनाथजी विद्यालंकार पी-एच्० डी०; हिंदी-भाषा में सर्वोत्तम इँगलैंड का इतिहास। सी० पी०, यू० पी०, बिहार में इंट्रेंस में कोर्स। मूल्य प्रत्येक भाग का १।), सजिल्द १॥), दूसरा-तीसरा भाग एक जिल्द में २॥)

९. अर्थ-शास्त्र

भारतीय अर्थ-शास्त्र (दो भाग)—लेखक, भूतपूर्व प्रेम-संपादक बाबू भगवानदासजी केला; भारत की धन संबंधी समस्याओं का अपूर्व विवेचन। ... . मूल्य २॥), ३॥)

१०. कृषि

उद्यान (सचित्र)—लेखक, शंकरराव जोशी एग्रिकल्चरल ऑफ़िसर; बाग़बानी-संबंधी अद्वितीय पुस्तक। सी० पी० में कोर्स। मूल्य १=), १॥=)

कृषि-मित्र—लेखक, पं० गंगाप्रसाद पांडेय एल्० ए-जी०, सुपरिंटेंडेंट एग्रिकल्चर; कृषि-संबंधी बातों का अपूर्व विवरण। मूल्य ।-)

११. स्वास्थ्य और चिकित्सा

तत्कालिक चिकित्सा (सचित्र)—लेखक, बाबू लालबहादुर-

[illegible]व ; डॉक्टरों और वैद्यों की अनुपस्थिति में किस प्रकार तात्कालिक चिकित्सा (First Aid) की जाय, इसका वर्णन । मूल्य १), १॥)

स्वास्थ्य की कुंजी—लेखक, डॉक्टर बाबूराम गर्ग ; स्वास्थ्य-संबंधी सभी बातों का विशद वर्णन । महिला-विद्यापीठ, प्रयाग में कोर्स । .. .. मूल्य १), १॥)

१२ वैज्ञानिक

भूकंप—लेखक, बाबू रामचंद्र वर्मा ; भूकंप क्या है, क्यों और कैसे होता है, इसका अत्यंत रोचक वर्णन । ... मूल्य ॥=), १=)

मनोविज्ञान—लेखक, प्रिंसिपल पं० चंद्रमौलि सुकुल एम्० ए०, एल्० टी०, मनोविकारों और मानसिक वृत्तियों का सूक्ष्म परिचय । मू० ॥), १)

१३. नवयुवकोपयोगी

जीवन का सद्व्यय—अनुवादक, श्रीहरिभाऊ उपाध्याय, संपादक त्यागभूमि ; प्रसिद्ध पुस्तक "Economy of Human Life" का महत्त्व-पूर्ण अनुवाद । ... .. मूल्य १), १॥)

पाली प्रबोध—लेखक, पं० आद्यादत्तजी ठाकुर एम्० ए०, काव्य-तीर्थ ; थोड़े ही दिनों में पाली-भाषा सीखने की कुंजी । मूल्य १), १॥)

सुख तथा सफलता—पुस्तक के नाम से विषय स्पष्ट । मूल्य ।)

नीति-रत्न-माला—चरित्र-सुधार-संबंधी अनेक महत्त्व-पूर्ण बातों का रोचक विवरण । .. .. मूल्य ।)

१४. कन्याओं के लिये

देवी पार्वती (सचित्र)—लेखक, मुंशी ज़हूरबख़्श हिंदी-कोविद ; औपन्यासिक ढंग से देवी पार्वती का सबके पढ़ने योग्य आदर्श जीवन-चरित । .. ... मूल्य ॥), १)

नल-दमयंती (सचित्र)—लेखक, मुंशी ज़हूरबख़्श हिंदीकोविद ; औपन्यासिक ढंग से नल-दमयंती का रोचक भाषा में जीवन-चरित । मूल्य ॥), १)

भारत की विदुषी नारियाँ—संपादिका, श्रीमती कृष्णकुमारी; ५० के लगभग विदुषी नारियों के जीवन-चरित। ... मूल्य ॥)

वनिता-विलास (सचित्र)—लेखक, भूतपूर्व सरस्वती-संपादक पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी; देशी-विदेशी स्त्रियों की शिक्षाप्रद और मनोरंजक जीवनियाँ। .. .. .. मूल्य ॥)

सती सीता (सचित्र)—लेखक, मुंशी ज़हूरबख़्श हिंदी-कोविद; महारानी सती सीता के जीवन का उपदेश-पूर्ण वर्णन। मूल्य १॥), २)

देवी शकुंतला—लेखक, श्रीहरिप्रसाद द्विवेदी; आदर्श प्रेमिका शकुंतला का मनोरम चरित। .. मूल्य ॥=), ॥।=), १=)

१५. बच्चों के लिये

इतिहास की कहानियाँ (सचित्र)—लेखक, मुंशी ज़हूरबख़्श हिंदी-कोविद; संसार के प्रसिद्ध पुरुषों के अलौकिक साहस, वीरता, दया आदि की सचित्र कथाएँ। .. ... मूल्य ॥)

कागज़ी करतब (सचित्र)—लेखक, श्रीयुत जी० पी० श्रीवास्तव बी० ए०, एल्-एल्० बी०; गणित-जैसे गहन विषय पर अत्यंत मनोरंजक पुस्तक। कागज़ के खिलौनों मे गणित की पढ़ाई। मूल्य लगभग ॥)

बाल-नीति-कथा (दो भाग)—मूल-लेखक, श्रीयुत ए० बी० ध्रुव एम्० ए०, एल-एल्० बी०, प्रो० वाइसचांसलर हिंदू-विश्व-विद्यालय; अनुवादक, पं० बदरीनाथ भट्ट बी० ए० प्रत्येक देश और धर्म की बालकोपयोगी शिक्षा की कहानियाँ। दो भागों में। गुरुकुल कांगड़ी। मूल्य २॥), ३॥)

भारत के सपूत (सचित्र)—लेखक, मुंशी ज़हूरबख़्श हिंदी-कोविद; भारत के महान् ऐतिहासिक पुरुषों के जीवन की सचित्र, रोचक कहानियाँ। ... . मूल्य ॥), १)

भू-कवच (सचित्र)—भूगोल के वैज्ञानिक भाग की सरल और सुंदर आलोचना। ... ... मूल्य लगभग १)

[illegible] की कहानियाँ (सचित्र)— मूल्य ॥=), १=)

विचित्र वीर (सचित्र)—लेखक, पं जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी; सुप्रसिद्ध अँगरेज़ी-उपन्यास Don Quixote का (जो संसार के १२ उपन्यासों में से एक है) अनुवाद। ... मूल्य ॥।), १।)

युधिष्ठिर—लेखक, श्रीकृष्णगोपाल माथुर; धर्मराज युधिष्ठिर का अत्यंत रोचक भाषा में जीवन-चरित सारे महाभारत की कथा।

मूल्य ॥।), १।)

१६. प्राचीन साहित्य और इतिहास

मतिराम-ग्रंथावली—सपादक, पं० कृष्णविहारी मिश्र बी० ए०, एल्‌ एल्० बी०; महाकवि मतिराम के ग्रंथों का टिप्पणियाँ, शब्दार्थ, नोट और आलोचना-सहित सुंदर संस्करण। मूल्य २॥), ३)

मिश्रबंधु-विनोद (तीन खंड)—लेखक, पं० गणेशविहारी मिश्र, माननीय रा० ब० पं० श्यामविहारी मिश्र एम्० ए० और रा० ब० पं० शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए०; प्राचीन और नवीन सभी कवियों और लेखकों की जीवनियों का उत्तम संग्रह; संशोधित और संवर्धित द्वितीय संस्करण।

प्रथम खंड	मूल्य २), २॥)
द्वितीय खंड	,, ३), ३॥)
तृतीय खंड	,, २), २॥)
चतुर्थ खंड	(आगे निकलेगा)

विहारी-रत्नाकर—प्रणेता, व्रजभाषा-साहित्य के पारदर्शी विद्वान् बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर" बी० ए०; महाकवि विहारी की सतसई संशोधित और उस पर अद्वितीय हिंदी-भाष्य। बी० ए० और एम्० ए० में कोर्स। ... . मूल्य ४)